मेरे भटकाव

प्रदीप कुमार : सम्पादक निदेशक


पूर्वोदय प्रकाशन

[illegible]

मेरे भटकाव

ISBN : 81-7037-038

कुछ शब्द

चिन्तक-कथाकार जैनेन्द्र की यह कृति प्रकाशित करते हुए हमें विशेष गौरव का अनुभव हो रहा है। जैनेन्द्रजी का कथा-साहित्य में मूर्धन्य स्थान असंदिग्ध है। गत 50 वर्षों से वे निरन्तर सृजनशील हैं और अब भी उनसे उतनी ही आशाएं हैं।

मेरे भटकाव की निर्मिति में नेहरू संग्रहालय और उसके शोध विभाग के श्री हरदेव शर्मा का विशेष आभार स्वीकार करना चाहिए। उन्होंने अपने रिकार्ड के लिए लम्बी भेंट वार्ता टेप की और वही पुस्तक का मूलाधार है। हम इस अनायास प्राप्तव्य के लिए संस्थान के परम कृतज्ञ हैं।

जैनेन्द्र का साहित्य नाना विधाओं में पाठकों के समक्ष आता ही रहा है। पर यह कृति स्वयं जैनेन्द्र को उसके अभावों, संघर्षों की गाथा को प्रस्तुत करती है। उन्होंने सन् 1923 के नागपुर झण्डा सत्याग्रह में पहली बार जेल यात्रा की और अनन्तर भी राष्ट्रीय आन्दोलन में फिर दोबारा जेल गये। उसकी कथा फलश्रुति इस रचना मे पाठक को प्राप्त होगी। इसका भी संकेत उसे मिलेगा कि कैसे उनमें राजनीतिक कर्म से एक प्रकार की विमुखता सृष्ट हुई और किस प्रकार एक नई आस्था, आशा-एवं-आदर्शवादिता का उदय हुआ। विस्मय हो सकता है कि सक्रिय रूप से राजनीतिक आन्दोलन मे भाग लेकर भी उनका साहित्य किन्ही इतर सूक्ष्म मानवीय प्रश्नों को लेकर रचा जाता रहा है और कैसे वह साहित्य राष्ट्रगत और दूसरे प्रश्नों को किनारा देता गया है।

आशा है कि जैनेन्द्र के व्यक्तित्व और उनके साहित्य के अध्ययन में जिज्ञासुओ, शोधार्थियो को इस कृति से पर्याप्त सामग्री और सहायता मिलेगी और रचना पाठको के योग्य सिद्ध हो सकेगी।

'पूर्वोदय'
नई दिल्ली-2

प्रदीप
(सम्पादक)

प्रारम्भ के प्रभाव

—'जैनेन्द्रजी, शुरू में आप पर किन-किन लोगों का प्रभाव पड़ा ?'

—'अपने पर पड़े प्रभावों के बारे में अलग-अलग बताना बहुत मुश्किल होगा। जैसा बताया गया बाद में, मैं दो साल का पूरा नहीं हुआ था कि पिताजी की मृत्यु हो गयी। इससे पिताजी की तो याद तक नहीं है। माताजी रह गयी और माताजी के पास मैं पला। स्वभावतः उनका प्रभाव ही विशेष और गहरा रहा होगा। माताजी वधव्य पर फिर अपने भाई यानी मामा के पास आ गयीं। उस समय वे रेलवे में काम करते थे। हम लोग उनके साथ ही रहे। तब की इतनी याद है कि मेरी दो बहनें मामी और उनका लड़का, यानी मेरा छोटा भाई, हम लोग सबके सब बहुत आनन्द से रहते थे। हमारे मामाजी की तनख्वाह 15 रुपये थी। पर कहीं किसी तरह की कमी नहीं थी और 15 रुपये ही पर्याप्त से अधिक होते थे। इसलिए प्रभाव की दृष्टि से माताजी का और उनके बाद हमारे मामा का प्रभाव रहा होगा। मामा भगवानदीनजी थे।

—'आपका जन्म कब और किस स्थान पर हुआ ?'

—'अलीगढ जिले में गांव ही कहिए, कस्बा तो क्या, कोड़ियागंज। मेरा जन्म अनुमानतः 1905 में हुआ। अनुमानतः इसलिए कहना पड़ता है कि कोई जन्मपत्री है नहीं। इसलिए निश्चित कहना कठिन है। ठीक समय पता नहीं शायद तड़का फूटने से पहले का सवेरा। यह अनुमान हुआ माताजी की लिखी एक कापी की पंक्ति से, उसमें जन्म का सन् 1905 लिखा था। इसलिए जन्म का सन् भर कह सकता हूं। जन्म की तिथि क्या ? इसके बारे में सुनने को मिला कि जब मैं पैदा हुआ तो मुझे पास-पड़ोसियों ने 'सकटुआ' पुकारना शुरू किया। पिताजी लौटकर आये, बाहर गये हुए थे। उन्होंने कहा, 'यह क्या बकवास है, सकटुआ। यह तो आनन्द की घड़ी है।' इसलिए उन्होंने आनन्दी ही नाम दे दिया। ऐसे में

आनन्दी लाल हो गया। 1905 मे सकट-चतुर्थी कब पडती है इससे अनुमान लगाया जा सकता है। किसी ने हिसाब लगाकर देखा तो तिथि दो या तीन जनवरी की निकली।

—'फिर बाद में आपने नाम कब बदला ?'

—'नाम मैंने नही बदला। हस्तिनापुर में हमारे महात्माजी (मामा) ने एक गुरुकुल खोला था सन् 1911 में। उस गुरुकुल में कुल पांच विद्यार्थी भरती हुए। एक मैं था और एक महात्माजी के साथी लाला गेंदन लालजी का लड़का था। दो-तीन और थे। वहा पर नाम बदले गए। अधिकांश नाम इंद्रांत रखे गए। और मेरा जैनेन्द्र नाम हो गया। शायद दूसरा इंद्रासन बचा न होगा। जब मैं वहां से निकला तो 'प्राइवेट मैट्रिक' किया और मैंने वही अपना नाम आनन्दी लाल फार्म में भरा। लेकिन जब लिखना शुरू हुआ तो मैं यहां दिल्ली में मां के साथ ही था। माताजी जैनेन्द्र नाम से पुकारने की आदी थी, आस-पास के लोग भी जैनेन्द्र के नाम से जानते थे, इसलिए जैनेन्द्र नाम चल गया। जिस आनन्दी लाल को साथी जानते थे कालेज मे, वह बनारस मे ही छूट गया। यहां के साथियों को यह अनुमान भी न होगा कि जिस आनन्दी लाल को वे जानते थे वह ही जैनेन्द्र है। इसकी एक घटना सुनिए—सच्चिदानन्द वात्स्यायन जो अज्ञेय के नाम से प्रसिद्ध हैं, मेरठ में रहते थे। उन्होंने एक साहित्य परिषद् का आयोजन किया था। आए, मैंने पूछा कि कहिए, कैसी व्यवस्थाएं चल रही हैं ? उन्होंने कहा कि एक जज साहब हैं, वे बहुत दिलचस्पी ले रहे और मदद कर रहे हैं। उनके कारण हमको धन इत्यादि की कोई असुविधा नही होगी। उन्होंने जानना चाहा था कि कौन-कौन आयेंगे। बताया गया कि जैनेन्द्र आयेंगे, निराला आयेंगे, यह आयेंगे, वह आयेंगे। ···तो जैनेन्द्र नाम की गुहार पर जब मैं मच पर पहुंचा तो वह जज साहब एकदम उछल कर ऊपर आये, बोले, 'अरे आनन्दी लाल, तुम जैनेन्द्र ?' उनमें जैनेन्द्र के नाम पर उत्कंठा थी, पर अनुमान नही था कि जो हमारा आनन्दी लाल था वही जैनेन्द्र कुमार हो सकता है। असल बात यह थी कि आनन्दी लाल नाम का लड़का पास तो हो गया था 'प्राइवेट मैट्रिक' और कालेज मे भी दाखिल हो गया था। पर उसने साइंस वगैरह कभी पढी नही थी, इसलिए 'आर्ट्स कोर्स' ले लिया था। आर्ट्स कोर्स मे वह बैठा-बैठा सोचा करता कि इसमें पढने को क्या है। जो बताई जा रही है वे सभी बातें ठीक ही ठीक हैं। वहा पढ़ने जैसा है क्या ? उमर छोटी थी। समझता हू कि 14 वर्ष ही रही होगी। जब कालेज के अहाते से बाहर जाते तो द्वार के पास रास्ते पर साइंस के 'प्रैक्टिकल' का रूम पडता था। शीशे के अन्दर से दीखता कि लोग जा रहे हैं, आ रहे हैं, बातें कर रहे हैं। कभी उनके हाथ की शीशी में लाल रंग है तो कभी नीला है। तो उस आनन्दी ने सोचा

कि यह कुछ दिलचस्प चीज है। सो डेढ़-दो महीने के बाद इस लालच में उसने 'आर्टस कोर्स' बदला और साइंस ले लिया। साइंस क्लास में पहुंचा तो उसको खाक समझ में नहीं आया कि प्रोफेसर क्या कह रहे है ? नतीजा यह हुआ कि 'फर्स्ट इयर' मे फिजिक्स में 100 में से शायद उसके 12 नम्बर थे। 'प्रमोशन' मिल गया क्योंकि और सब्जैक्ट्स ठीक थे। उस समय उस आनन्दी लाल को डर एक ही था कि कही मां को यह न सुनना पडे कि वह फेल हो गया। इस बात का बहुत डर था। वैसे तो वह लापरवाह था, उसे और किसी बात की फिक्र नही थी। हालत यह थी कि मां को इस लड़के पर बिलकुल भरोसा नही था। वह जानती थी कि इसको किसी प्रकार का शऊर तो है नही। यानी रुपयो का मनी-आर्डर उसके नाम नही आता था कालेज में। कालेज मे एक थे दीपचन्द, जिनका गुरुकुल का नाम प्रतीन्द्र था। वह जीवित हैं और कैराना (उ० प्र०) में वकील हैं। उनको समझा जाता था मेरा अभिभावक। रुपया उनको भेजा जाता था। मुझे याद नही है कि मैंने कभी जाकर अपनी फीस भी जमा की हो। फीस कैसे कहां जमा की जाती थी इस तक का मुझे पता नही था। जो मेरे अभिभावक-तुल्य थे, मुझसे एक साल सीनियर थे, वह फीस जमा करते और मेरा खर्च चलाते थे। 'बोर्डिंग' की जो 'मेस' थी उसमें 'बाई रोटेशन' मैनेजर बनाया जाता था। लेकिन किसी को यह कल्पना नही होती थी कि जैनेन्द्र, नही आनन्दी लाल कहना चाहिए, को कभी यह काम सौंपा जा सकता है। क्योंकि समझा जाता था यह तो है अल्हड़ इस पर किसी प्रकार की जिम्मेदारी नही डाली जा सकती। इसी अपने अल्हड़ इकलौते को मां ऐसा प्यार करती थी कि बेटा, मां को तनिक भी निराशा झेलनी पड़े, इस विचार से ही बेहद डर जाता था।

—बनारस में हिन्दू विश्वविद्यालय में न ?

'—नहीं समझिए। पर तब वह सैंट्रल हिन्दू कालिज था, कमच्छा में।'

—'क्या कुछ पुस्तकों का प्रभाव भी आप पर पड़ा ?'

—मैं उस समय भी कुछ किस्से, कहानियों की किताबें पढ़ता था। अच्छी या सस्ती सभी किस्म की। कवि रवीन्द्र नाथ की कहानियां पढ़ता था, और इधर-उधर की भी। बस इतना ही। लिखने या लिखना सीखने की ओर कोई विशेष रुचि मुझमें नही थी। मैंने फिर कालेज छोड़ दिया। लोकमान्य तिलक की मृत्यु अगस्त, 1920 को हुई। उसी शाम होस्टल में एक सभा हुई। तदनंतर कलकत्ता मे 'स्पेशल सैशन' हुआ कांग्रेस का। उसमें गांधी जी का असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव आया और मान्य हुआ। बड़ी कांग्रेस की सभा में उसे फिर स्वीकार किया जाना था। मैंने तब से समझ लिया कि मेरा कालेज छूट गया। मैंने पूछा अपने मामा से कि मैं 'क्या करूं ?' उन्होंने बहुत डाट-डपट का पत्र लिखा कि तुम अभी पूछने ही बैठे हो, बजाय इसके कि खबर देते कि तुम यह पढ़ाई और कालेज

छोड चुके हो। बडी शर्म की बात है! ···कालेज छूटने के कुछ अरसे बाद, समझता हूं कि शायद अगले वर्ष शुरू गर्मी में ही, मुझे नागपुर जाना पड़ा। नागपुर में हमारे मामा भगवानदीन असहयोग आन्दोलन मे गिरफ्तार हो गये थे। हमारी मामी यही थीं माताजी के पास। मां ने कहा कि तुम मामी को ले जाओ नागपुर। हम लोग जबलपुर होते हुए नागपुर गये। जबलपुर मे माखनलाल चतुर्वेदीजी थे और वहीं से उनका 'कर्मवीर' निकलता था। उनसे परिचय हुआ। वहां बहुत युवक थे जिन्होने स्कूल-कालेज छोड़ा था। एक तरह से आश्रम-सा ही बन गया था। उस समय का अल्हड जैनेन्द्र काफी बाद में जाकर कलकत्ता के बडे कांग्रेस अधिवेशन में माखनलाल जी के सामने पड गया। तब तक वह कुछ लिख तक बैठा था। कुछ नाम और इनाम पा गया था लेखक के रूप में। माखनलाल जी ने कहा, 'यह क्या हुआ?' मैंने अचरज से पूछा 'क्या!' बोले, 'तुम जब जबलपुर आये थे तो तुमको दिखाकर हम कहा करते थे कि कुछ लडके ऐसे बुद्धू और भौंदू होते है कि जिनमें किसी तरह की भी संभावना नही होती। यह एकदम क्या हो गया? तुम तो साहित्यकार निकल पडे।' मैंने कहा, 'क्या मैं स्वयं यह सवाल आपसे पूछ सकता हूं?'···तो यह हालत थी मेरी। इससे अन्दाजा हो सकता है कि मैं किस किस्म का फिसड्डी, आवारा, अल्हड़ और बेगाना था। याद है कि मैं जब दिल्ली मे रहता था तो एक भी जगह नही थी कि घर से निकलूं तो कही पानी भी पा सकूं। इतना अपरिचित और अबोध किस्म का था। घर से सीधा लाइब्रेरी आता, पढ़ता और फिर घर वापस आ जाता था। यह सिर्फ भटकन मेरी दिनचर्या थी। तभी माखनलाल जी दिल्ली आये। भरतपुर में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, वे उसके अध्यक्ष थे। वहां से आये और चतुरसेन शास्त्री जी के साथ ठहरे। उनके दर्शन के लिए गया तो चतुरसेन जी से मेरा परिचय हुआ। चतुरसेन जी एक बार पूछने लगे कि तुम पढ़ते हो, कुछ लिखने की भी शायद सोचते हो। बताओ किन लेखकों को जानते हो? मैं जानने को एक को भी नहीं जानता था, सिर्फ नाम जानता था। मैंने कुछ नाम लिए होंगे। चतुरसेन जी ने पूछा, 'प्रसादजी के बारे में क्या विचार है?' मैंने कहा, 'कौन प्रसाद?' वे असमंजस मे पड़ गये। सोचते होंगे कि यह कैसा लड़का है, प्रसाद का नाम भी नहीं जानता। तो मेरी यह निर्बोध दशा थी। इस समय तक, मुझे अचरज लगता है, कि मैं अनायास लिख कैसे बैठा। तब प्रश्न ही प्रश्न मेरे सामने थे। मैं इकलौता लड़का था अपनी मां का। पिताजी को मैंने जाना नहीं था। मां का सब आसरा-भरोसा मुझ पर था। मेरी उमर 20-21 को पार करने लगी। मैंने पाया कि मैं माताजी का सहारा होने के बजाय बोझा हूं। मन बहुत ही दुखी रहता था। माताजी बड़े प्यार से मेरा इन्तजार करती रहतीं कि शाम को आयेगा, खाना तैयार करके बैठी रहतीं। मुझे अपने निकम्मेपन की

इतनी शरम चढ़ी रहती थी कि जितनी भी देर हो सकती, बाहर ही बाहर रहता था। मां की आंखो के सामने नही आना चाहता था। एक बार आया तो देर हो गयी थी। अंधेरा हो गया, रात आ उतरी। माता जो स्वयं तो पानी भी नही पीती थी अंधेरा होने पर। मेरे ऊपर भी ताकीद थी कि खाना नही मिलेगा रात को,सो खाना नही मिला। लेकिन मेरी हालत यह थी कि अक्सर अंधेरा हो जाता और रात हो ही जाती थी। एकाध दिन तो वह अपना नियम सह गईं। आगे उनका प्रेम बरदाश्त नही कर सका कि मुझे भूखा रखें। इस तरह अपनी बेबसी और आवारगी से मैं बहुत ही दुःखी रहता था। सोचता था कि तुम किसी के लिए सहारा नही हो, सबके लिए बोझ हो। धरती पर ही बोझ हो। ऐसे रहने से क्या फायदा। अक्सर आत्मघात की बात मन में आती थी। फिर सोचता था कि तुम्हे तो छुट्टी मिल जायेगी इस तरह से, लेकिन मां का क्या होगा। इस दुविधा में मैं उधर कदम नहीं उठा सका। एक बार जाने मुझे क्या हुआ। मैं कलकत्ता भाग गया। सोचा था कि कलकत्ता इतनी बड़ी जगह है, वहां कुछ तो नौकरी हाथ आ ही जायेगी और मां को लिख दूगा कि अब फिक्र न करो। हावड़ा स्टेशन पर एक धर्मशाला थी। मुझे भला कमरा-वमरा क्या नसीब होता। एक तौलिया था अपने पास और एकाध कुरता होगा उसमें। वह मैंने एक आले में रख दिया। तीन पैसे में तेल का परौठा मिलता था वहां, वह मेरे लिए सुबह और शाम दोनो वक्त के लिए काफी होता था। इस तरह से मैं सात रोज रहा और भटकता रहा। लेकिन 15 रुपये की नौकरी भी नही मिली। सोचा, मां उधर परेशान होगी। मेरे पास पैसा मुश्किल से इतना बचा है कि तीसरे दर्जे का टिकट लेकर वापस दिल्ली पहुंच सकू। मैं वापस दिल्ली चला आया। मेरा लिखना इस हालत में शुरू हुआ। यानी यों समझिये कि अपने मे डूब रहना मेरे लिए लाजमी था। क्योंकि सामने जब मैं सूने आकाश को और सूने समय को देखता तो देख नही पाता था, सहम जाता था। नतीजा यह हुआ कि मेरे लिए जरूरी हुआ कि अपने लिए शगल ढूढू और जैसे-तैसे अपने को भुलाए रखूं। नही तो सामना नही हो पाता था भीतर-बाहर की शून्यता का। उस समय कागज-पैंसिल उठायी। कभी कल्पना नही थी कि ऐसे लिखा हुआ कुछ छापे में आ जायेगा, किसी भी रोज, किसी भी संयोग से। सिर्फ अपने को खाली नही रहने देने के लिए कागज काला हुआ था। पर उसमें से कुछ छप गया और परमात्मा की करनी कि एक रास्ता-सा मिल गया।

—'पहले कौन-सी चीज छपी थी आपकी?'

—'मैं झंडा सत्याग्रह के वक्त नागपुर मे था। वहा एक अवारी थे जो पीछे जनरल अवारी के नाम से प्रसिद्ध हुए। वहां से दिल्ली आया तो कुछ काल बाद अखबार में पढ़ा कि अवारी गिरफ्तार हो गये। उन्होने शस्त्र सत्याग्रह शुरू किया

था। खुली तलवार लेकर चलते थे और कहते थे कि हमारे भारतीयों का हक है कि तलवार रखें। मैं अहिंसा में विश्वास करता हूं, तलवार के उपयोग में मैं विश्वास नहीं करता। लेकिन शस्त्र रखने के हक को मुझे कायम करना है। अवारी ने इस तरह अहिंसक शस्त्र सत्याग्रह शुरू किया और उसमें पकड़े गये। मैं इस दिल्ली मे अवारा घूमता था। ख्याल आया कि एक तेरा साथी इस तरह से जूझ रहा है, चल रहा है, प्राणों पर खेल रहा है—और तू ? तो इस आत्म-धिक्कार के अधीन मैंने कुछ लिखा और उसका शीर्षक दिया 'देश जाग उठा था'। चतुरसेन जी को दिखाया। चतुरसेन जी ने उस पर एक नोट लिखा माखनलाल जी के नाम कि—'आपने जिसका शारीरिक परिचय कराया अब मैं उसका आत्मिक परिचय आपको कराता हूं। यह लेख यथा शीघ्र छपना चाहिए बड़े हाशिये के साथ।' लेकिन वह छपा मुझे दिखाई नहीं दिया। सबसे पहले लिखी चीज वही थी। बाद में एक बार गोरखपुर किसी गोष्ठी मे बात कर रहा था तो किसी ने पूछा कि सबसे पहले क्या लिखा ? मैंने यही बताया, 'देश जाग उठा'। वही एक सज्जन बोले कि लेख वह मेरे पास है। मैंने कह दिया कि यह कैसे हो सकता है। पर वह सचमुच उस लेख को ले आये। कागज जहां-तहां से फट गये थे। कुछ दीमक चाट गए थे। मैंने पूछा, 'तुम्हारे पास कैसे आया ?' तो कहने लगे कि माखनलाल जी के पास हम जाते थे, वहीं एक बोरे की रद्दी को टटोला तो उसमें से यह पा गया। आज भी मेरे पास है वह 'देश जाग उठा'। वह नहीं छपा, लेकिन अवारी के बारे मे मेरी भावनाएं जल्दी शान्त नहीं हुई। चुनांचे फिर दूसरा लेख लिखा। चतुरसेन जी ने कहा, 'पत्र निकलता है कलकत्ता से 'विश्वमित्र' (साप्ताहिक) उसको भेज दिया है।' वह भी देखने को नहीं मिला। सबसे पहले जो रचना छपी वह थी जरूर मेरी, लेकिन मेरे नाम से नहीं छपी, चतुरसेन शास्त्री के नाम से छपी। वह थी 'देवी अहिंसे'। यह पहली छपी रचना है। यानी अहिंसा को देवी मानकर मैंने उसे संबोधित किया और पूछा कि तुम हो क्या ? उसमें अवारी का नाम आता है। अवारी तुम्हें (अहिंसा को) देवी मानता है और वही हाथ में नंगी तलवार लेकर चल रहा है, तो तुम सच क्या हो ? गद्य काव्य कहिए। यही सबसे पहले छपा था। ऐसे ही एक बार चन्द्रगुप्त विद्यालंकार लाहौर मे मुझसे मेरे आरम्भ की बात पूछ बैठे। मैंने यही किस्सा सुनाया तो बोले कि पंजाब में बी० ए० टैक्स्ट मे अभी एक पुस्तक लगी है जिसमें चतुरसेन शास्त्री का लेख 'देवि अहिंसे' है। वहां 'अहिंसे' से बिन्दी खत्म हो गयी है, 'अहिसे' छपा है। मैंने कहा, 'ठीक वही है।' लाहौर से दिल्ली आने पर चतुरसेन जी से मैंने कहा कि रचना बी० ए० के पाठ्य मे आ गयी है, आप संशोधन करना चाहेंगे ? वे टाल गये। काफी दिनों के बाद, एक अखबार निकलता था 'अभ्युदय'। पद्मकान्त मालवीय उसे चलाते थे। वे आये और कहने

लगे, 'तुम हमारे 'अभ्युदय' को कुछ नही देते । अब कुछ न कुछ जरूर देना होगा ।' बहुत आग्रह पर मैंने कहा, 'एक रचना है मेरी, लेकिन उसी को 'रिक्लेम' करने की आवश्यता आ पड़ी है, चाहो तो ले लो ।' उनको मामला रोचक लगा । उन्होने कहा, 'लाओ ।' मैंने कहा, 'पहले चतुरसेन जी से मिल लेना चाहिए, अनुमति लेनी चाहिए।' हम दोनो चतुरसेन जी के पास गये। वे चांदनी चौक में रहते थे । वे नही मिले और हम लौट आये । अगले दिन पद्मकान्त कहने लगे, 'अब तो हो भी आये, अब दे दो ।' मैंने कहा, 'एक बार और सही ।' दूसरी बार फिर नही मिले। फिर वह रचना ले ही गये और 'अभ्युदय' मे पूरा 'डबल पेज हेडिंग' देकर 'चतुरसेन की चोरी' करके छापी । मैंने कहा था रचना छपे तो एक प्रति शास्त्री जी को जरूर भेज देना। मैंने समझा कि चतुरसेन जी को भेज दी गई होगी। एक बार उनके पास बैठा था। अनुमान हुआ कि उनको शायद मालूम नही रचना छपी है। मैंने उनसे कहा कि लेख ऐसे-ऐसे छपा है । बहुत नाराज हुए। लेख देखना चाहा और मैंने लाकर दिखा दिया। बहुत बिगड़े, बहुत गुस्सा हुए। पर कभी ठंडे, कभी गर्म । कहने लगे, 'क्या करना चाहिए ?' मैंने कहा, 'आप देख लीजिए।' खैर, उन्होंने सम्पादक को पत्र लिखकर स्वीकार किया कि रचना उनकी नही थी। लेकिन जैनेंद्र को कलम पकड़ना नही आता था, सीखने मेरे पास आते थे, इत्यादि । मैंने भी उसी पत्र मे लिख दिया कि चतुरसेन जी मेरे गुरु-तुल्य है। चोरी आदि की कल्पना भी असम्भव है। पर अखबार ने फिर मोटा शीर्षक देकर छापा, 'चतुरसेन ने चोरी मान ली।' इस प्रकार की अनेक अविश्वसनीय घटनाएं होती चली गयी। अनेक सम्पर्क प्राप्त हुए। सबका मुझ पर प्रभाव पड़ा। पर अलग-अलग करके मैं पहचान नही सकता । इतना जरूर है कि कुछ लोगों के प्रति मेरे मन में गहरा आदर भाव हुआ। इससे अनुमान हो सकता है कि उनका प्रभाव अधिक पड़ा होगा। जैसे आरम्भ में रवीन्द्रनाथ की कथाएं मैंने पढ़ी थी, बाद में रूसी लेखक टाल्सटाय, दोस्तोयेवस्की पढ़े। उनका प्रभाव पड़ा ही होगा। शरतचन्द्र का भी प्रभाव पड़ा। अपने मामा महात्मा भगवानदीन जी की मेरे मन पर बड़ी ही गहरी छाप है। माता जी तो अत्यंत विलक्षण महिला थी। उनके लिए आधार रूप कोई भी नही रह गया था, भाई घर-बार छोड़ बैठे थे। मेरे पिताजी का देहान्त हो ही चुका था। लेकिन माताजी अदम्य साहसी थीं। निराशा नही आने दी, बम्बई चली गयी । वहां थोड़ी कुछ पढी-लिखी, लेकिन उसी के आधार पर वे बढ़ती गयीं। वे इन्दौर गयी और वहां उनके ऊपर एक संस्था का भार छोड़ दिया गया । दिल्ली कभी-कभी वे आती थी जैन महिलाओं के आमंत्रण पर। आग्रह पर एक बार दिल्ली आईं और उनके सहयोग से यहां जैन महिला आश्रम की स्थापना हुई।

आपने प्रभाव के बारे में पूछा तो मैं समझता हूं कि इस प्रकार नाना प्रभाव मुझे शिक्षित और दीक्षित करते गये।'

—'आपकी शैली पर किस का प्रभाव पड़ा ?'

—'वह मैं नही कह सकता। इतना मुझे याद है कि आरम्भ मे मेरा लिखना शुरू हुआ तो चतुरसेन जी ही यहां उपलब्ध थे। उनकी एक रचना है 'अन्तस्तल।' वह मैंने पढी तो रस मिला! देखा कि उन भावनाओं को चित्रवत् तो अंकित मैं नही कर सकता हूं। फिर भी भावनाओ को अलग-अलग लेकर मैंने लिखना शुरू किया तो चित्रमयता वहां गायब लगी, उसकी जगह कुछ विश्लेपण-शीलता आ गयी। तो कहना चाहिए कि चतुरसेन जी का मुझ पर थोड़ा बहुत असर रहा।

वैसे मे सबसे अधिक कायल हूं दोस्तोयेवस्की का जो रूस देश में हुए। मानता हूं कि उनके लिखने का स्तर नैतिक से भी आगे आध्यात्मिक है। टाल्सटाय की भूमिका मैं नैतिक कहूंगा, लेकिन दोस्तोयेवस्की जो आत्मा की संकुलता को पाप के बीच खोजते और दिखाते हैं वह मुझे बहुत प्रिय होता है। दोस्तोयेवस्की के बाद मुझे शरत्चन्द्र मे भी दिखाई दिया कि वह पारम्परिक नैतिकता से तुष्ट नही हैं। उस स्तर से भी नीचे उनका संधान केन्द्र है। आध्यात्मिक शब्द जरा बड़ा है। अध्यात्म में कुछ ईश्वर का बोध आने लगता है। वह तो नही है, लेकिन गहराई की दृष्टि से मैं आध्यात्मिक कह भी सकता हूं। कारण, प्रेम के लिए उन्हे किसी बाहरी समर्थन की आवश्यकता नही है। साहित्य में इन दोनों का प्रभाव मेरे मानस पर है। सबसे अधिक प्रभाव मैं समझता हूं, मेरे ऊपर गांधी जी का कहना चाहिए। एक समग्र संयुक्त पुरुष का चित्र मैं आंकना चाहू तो हठात् वह गांधी जी का रूप बन जाता है। इसलिए सर्वाधिक प्रभावित तो मैं गांधी जी के व्यक्तित्व से हूं।'.

—'अपने माता-पिता के बारे में बताए ?'

—'मेरा जन्म 1905 मे हुआ और दो वर्ष का पूरा नही था—1907 रहा होगा कि पिताजी का देहान्त हुआ, जैसा कि बताया जाता है। उनका नाम प्यारेलाल था और मामाजी के लेख से मालूम होता है कि उन्होंने पटवारी की परीक्षा पास की थी और वे कपड़े की पैंठ करते थे। यानी गांवों की पैंठ मे देहात का बना कपड़ा बेचते थे। मैंने मामाजी के लेख में यह भी पढ़ा कि उनको किस्से कहने मे अच्छी महारत हासिल थी। मुझे पता नही, लेकिन हमारे मामाजी ने यह अनुमान लगाया कि मैं कहानी लेखक बना तो यह प्रभाव पैतृक रूप से मिला होगा। सच यह है कि मेरी कहानियो मे शायद किस्सा कोई है ही नही।'

माताजी की कुशलता का मुझमें सर्वथा अभाव है। यह क्यो हुआ ? मैं तो माताजी से बिल्कुल उलटा हूं। इस अर्थ मे कि वे बड़ी दक्ष थी व्यवहार मे और

उनमें परिवार को जुटाये रखने का, जन-समायोजन का अद्भुत गुण था। वह सब मुझमें एकदम नहीं हैं और मैं कभी-कभी सोचा करता हू क्या बात है कि इतनी व्यवहारकुशल माता का पुत्र होने पर भी मुझमे व्यवहारशीलता का अत्यत अभाव है ?'

प्रेमचन्द्र के संस्मरण

—'उनका देहान्त किस कारण हुआ ?'

—उनका देहान्त 1935 में हुआ। 1936 मे प्रेमचन्द का देहान्त हुआ। एक वर्ष पहले उनका देहान्त जलोदर रोग से हुआ और प्रेमचन्द का देहान्त भी जलोदर में ही हुआ। माताजी के देहान्त से कुछ पहले मेरे मन मे यह आया था कि शहर का जीवन तुम्हें रुचता नही है, इसलिए तय किया था कि गाव मे रहना होगा। सहारनपुर जिले का एक गांव प्राय. निश्चित भी हुआ था। उस निश्चय के साथ तीन-चार महीने के लिए देहरादून के पास राजपुर मे सपरिवार ठहरा भी था। माताजी की बीमारी की बात सुनी तो दिल्ली आया। यह कहने योग्य बात नही कि प्राणांत के क्षण मेरा मन इस चिन्ता के बोझ से दबा था कि कफन कहा से आयेगा, अर्थी कैसे उठेगी। देहान्त के बाद मेरी बहिनें और उनके बच्चे वगैरह सब आये थे। मैंने फिर 15 नम्बर दरियागंज का मकान लिया जिसमें 7-8 कमरे थे। वह मकान आगरा होटल से लगा था और छत मिली हुई थी। वहा से एक-आध चीज चोरी चली गयी थी। इधर प्रेमचन्द बीमार पड़े और वे अपेक्षा मे थे कि मैं पहुंचूंगा। कारण, शान्ति-निकेतन जाते समय उनको आश्वासन दे आया था कि आप किसी बात की चिन्ता न करें, जो भी काम-धाम है, मैं आ जाऊंगा, देखता रहूंगा, आप फिक्र में न पड़ें। निराला की भेंटवार्ता छपी कि प्रेमचन्द ने कहा जैनेन्द्र आते होंगे, मुझे कोई चिन्ता नही है। मैं पढकर सोच मे पड़ गया। सोचा कि क्या करूं। परिवार के सारे सदस्य थे, बड़ा मकान असुरक्षित था, घर में पुरुष सदस्य मैं ही था। इसलिए मुझे एक छोटे मकान की जरूरत हुई जो पीछे की तरफ अत्यन्त सुरक्षित हो। ताकि मैं जाऊं तो महीने, साल या अधिक जितना भी प्रेमचन्द के पास रहना पड़े तो चिन्ता न हो। तब यह मकान जहा अब मैं बैठा हूं और आप बैठे है, लिया गया। यह पूरा बना भी न था। कहना चाहिए कि मेरे ही निमित्त मकान मालिक ने बनवाया था। इसमे सामान भी नहीं आया था सब कि मैं प्रेमचन्द के पास चला गया। ऐसे प्रेमचन्द की मृत्यु के समय मैं उनकी शय्या के पास ही था। सन् 1935 मे माताजी की मृत्यु हुई, ठीक एक वर्ष बाद उसी रोग से प्रेमचन्द की मृत्यु हुई।'

—'माताजी का नाम क्या था ?'

—'माताजी का नाम था रामदेवी बाई।'

प्रोग्रेसिव कांफ्रेंस

—"प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' से भी आपका सम्बन्ध रहा ?'

—'प्रेमचन्द ने मुझसे जिक्र किया था कि कुछ नौजवान लोग हैं तरक्की पसंद। वे लिखते हैं लेकिन मुस्लिम 'कजरवेटिव ओपीनियन' वाले उनको बहुत परेशान करते हैं। वे तुमसे मिलेंगे, उनकी मदद करना, हौसला भरना। उसके बाद प्रेमचन्द का लखनऊ से तार आया कि तुम आये नहीं, 'प्रोग्रेसिव कांफ्रेंस' है।' मैं लखनऊ पहुंचा और सर वजीर हसन साहब के बंगले पर ही प्रेमचन्द के साथ ठहरा। सज्जाद जहीर सर हसन के साहबजादे थे। वहां प्रेमचन्द बोले कि तुम लेट आये हो, खैर, कोई बात नहीं, हमने सवेरे 'मेनिफेस्टो' स्वीकार कर लिया है, लो यह देखो। मैंने कहा कि अभी तो आपने बातचीत की होगी, कांफ्रेंस शुरू होने वाली है, 'मैनिफेस्टो' कब, कैसे बन गया ? कहने लगे कि भाई, किस चक्कर में पड़ते हो, ठीक है, काम हो रहा है, तुम इस पर 'साइन' कर दो। मैंने कहा कि मैं आपके साथ हूं, इन लोगों के साथ हूं। लेकिन दस्तखत इस पर कि 'डिवोशनल लिटरेचर रिएक्शनरी' है, मेरा मन तो यह नहीं कहता। कहने लगे कि तुम जाने किस फेर में हो, इन सब बातों में क्या रखा है। मैंने कहा कि नहीं रखा है तो या तो आप इसको 'ओपन' कर दीजिए बहस के लिए, नहीं तो मुझे माफ कर दीजिए। खैर, उसके बाद भी प्रगतिशील एक-दो कांफ्रेंस हुईं और मैं सम्मिलित होता रहा। लेकिन बहुत से लोग जो शुरू में शामिल थे धीरे-धीरे करके अलग होते गए। जैसे नरेन्द्र देव और दूसरे जो सोशलिस्ट झुकाव के थे वे। पीछे मालूम हुआ कि सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट इन दो धाराओं में अन्तर है और प्रोग्रेसिव' में सोशलिस्ट नहीं आता। ऐसे मेरा भी सम्पर्क ढीला होता गया।'

—'फिर आप पीछे हट गये ?'

—'आगे ही कब बढ़ा था मैं ? इससे पीछे हटने का सवाल नहीं था। ऐसा अवश्य मालूम हुआ कि सर्वथा उनकी तरह से सोचने वाला उन्होंने मुझे नहीं पाया और इसलिए धीरे-धीरे अपने से मुझे दूर जाने दिया। वैसे मेरे संस्कार भी अनुकूल नहीं थे। जब मैं पहली बार लखनऊ में शामिल हुआ तो ऐसा नहीं था कि मुझे सूर्यास्त से पहले भोजन का नियम हो। लेकिन 7 बजे के करीब भोजन होता था। अब वहां ठहरा तो 9 बजे, 10 बजे, 11 और साढ़े ग्यारह भी हो गए और मैं सोचता रहा। ले-देकर 12 के लगभग हम लोग मेज पर पहुंचे। पर मेरे खाने लायक कुछ था नहीं। बड़ी मुश्किल से चपाती और अरहर की दाल निकल पायी। दाल में भी प्याज वगैरह था। बाकी पूछिए नहीं। तो कुछ संस्कार से ही उन्होंने देखा, मैंने भी देखा, कि मैं बिल्कुल तरक्की वाला नहीं हूं। मैंने प्रेमचन्द से कहा कि उन्हें मेरे कारण असुविधा होती होगी और अगले सवेरे ही मैं उस

कोठी में चला आया गंगा पुस्तक माला के दुलारे लाल भार्गव के पास। सवेरे 9 बजे कहीं उठ रहे है और बेड-टी आ रही है—इत्यादि क्रम मुझे अनुकूल नहीं हुआ। उन बन्धुओं को क्या मालूम था कि कोई मुझ-सा भी 'प्रोग्रेसिव' हो सकता है।'

—'एक सवाल मैं और आप से पूछना चाहता हूं। अक्सर यह कहा जाता है कि प्रेमचन्द मृत्यु से पहले साम्यवाद की तरफ झुक रहे थे। इसमें कितना सत्य है।

—'मैं मानता हूं कि साम्यवादी चिन्तन उन पर प्रभाव डाल रहा था। वे मानने लगे थे कि नैतिक आदर्शवाद वर्तमान परिस्थितियों मे पूरा काम नही देगा। आर्थिक विषमता उनके लिखने और सोचने में मुख्य विषय थी ही। वे मान चले थे कि आदर्शवाद इस प्रश्न को भावात्मक स्तर पर छोड़ देता है। वह असर थोड़ा उन पर पड़ रहा था। लेकिन मैं यह नही मानता हू कि नैतिक झुकाव अन्त तक उनसे छूट पाया। कुल मिलाकर मैं यह कहूंगा कि गाधी जी को उन्होंने अन्त तक नही छोड़ा। लेनिन की और मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित जरूर हुए लेकिन इस कारण वे गाधी प्रभाव या नैतिक रुख से छूट पाये, यह मैं नही स्वीकार करूंगा।

—'जब आपने प्रेमचन्द जी से यह प्रश्न किया कि उनके उपन्यास और उनकी कहानियों में जो देशभक्ति थी और मजदूर और उसके संघर्ष की जो चीजें थीं वह इसलिए आती थीं कि वह उनको दूर से देखते थे तो उन्होंने इसका क्या उत्तर दिया ?'

—'नहीं, वे भी सोचते रह गये। मुझे याद आता है कि एक बार, इन्ही दिनों की बात है, शायद सन् 1934 की होगी, जवाहरलालजी ने उसका जिक्र किया है अपनी पुस्तक में। वे काशी गये थे और मैं भी काशी में सयोग से था और प्रेमचन्द जी बोले, 'जैनेन्द्र, तुम कल आते तो बड़ा मजा आता।' पूछा, 'क्यों ?' तो कहने लगे, टाउन हाल पार्क में एक पार्टी थी। तो उस पार्टी में जिस मेज पर हम थे, वहीं पर जवाहरलाल जी थे और कमला जी भी थी। उस अवसर पर नियुक्त फोटोग्राफर ने फोटो लेने की तैयारी में कहा, 'प्लीज जेन्टलमैन—प्लीज जेन्टलमैन।' जवाहरलाल जी थोड़ी देर तो सुनते रह गये। फिर जब उसने तीसरी बार 'प्लीज जेन्टलमैन' कहा तो जवाहरलाल जी झल्ला के खड़े हुए, बोले, 'क्या 'प्लीज-प्लीज', करते क्यों नही अपना काम ?' वह बेचारा फिर अपना 'फोकस' जमाता रहा। फिर उसने जो 'प्लीज' कहा तो वह फिर उबल पड़े। कमला जी बैठी थी, बोलीं, 'आपको यह क्या हो रहा है ? आप क्यों फुदक रहे हैं ? बेचारे को काम करने दीजिए।' जैनेन्द्र, कमला जी ने यह जो फुदकने की बात कही तो हमें बड़ा मजा आया।' अगले रोज हिन्दी वालों की गोष्ठी थी, उसमे नेहरू जी

का स्वागत था। जवाहरलाल जी ने वहां कुछ नसीहतें दीं, जिनका जिक्र उन्होंने अपनी पुस्तक में किया है। उसके बाद पीछे कमरे में एक छोटी-सी चाय पार्टी थी। कोई दस-पन्द्रह जने होंगे। सम्पूर्णानन्द साथ आये थे, कमला जी थीं, नेहरू-जी थे और उसमें रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द्र और संयोग की बात है कि मैं भी उस समय मौजूद था। तो मैं तो खैर नया था। मेरा कोई अधिकार नहीं था। काशी के सभी शीर्ष साहित्यकार थे, अन्य नेता जन थे। लेकिन मुझे आश्चर्य हुआ कि सब बैठे हैं और बात नहीं हो रही है, करीब दो मिनट चुप्पी सी रह गयी। न प्रेमचन्द जी बोल रहे हैं, न जयशंकर जी, न जवाहरलाल जी और न सम्पूर्णानन्द, न और कोई। एकाध मिनट असमंजस ही व्यापा रहा। उसका टूटना आवश्यक था। मैं बोलूं न बोलूं, यह सोच ही रहा था कि जवाहरलाल जी ने कुछ कहा। कहा कि साहित्यकार को यह करना चाहिए, वह करना चाहिए देश के प्रति, इत्यादि। तो साहस देखिए मेरा कि मैं बोल पड़ा कि साहब, साहित्यकारों को देश के प्रति यह-वह जो करना चाहिए, वह तो ठीक है। लेकिन प्रेमचन्द जी ने जो भी लिखा है उसमें देश को यहां से वहां तक फैलाकर रख दिया है। लेकिन आपकी लखनऊ कांग्रेस के मन्त्री को यह भी पता है कि प्रेमचन्द ने धरना देने के लिए स्वयंसेवकों में अपना नाम लिखवाया था। वे धरना देने के लिए निकले थे। आपके देश के राजनीतिज्ञों का यह हाल है और हिन्दी के हमारे एक लेखक ने देश के प्रश्नों को यहां से वहां तक अपने सारे साहित्य पर सजा कर रख दिया है।

और मैं कुछ मानता हूं कि प्रेमचन्द जी चलती हुई राष्ट्रीय प्रवृत्ति को समीक्षा नहीं सराहना के भाव से देखने के लिए इसलिए भी विवश थे कि वे उसके अंग नहीं थे, अंग हो नहीं पाये। जेल जाना चाहते थे, वैसा भाग्य नहीं पा सके। उनकी पत्नी अवश्य जेल गयी थीं। उन्होंने मुझे लिखा भी था कि वे चली गयी हैं तो मैं कैसे जेल जा सकता हूं, कोई तो घर में रहना चाहिए।

अगर वह जेल जाते तो शायद वह 'इल्यूजन' जो उन्होंने पाल रखा था उसमें डिसइल्यूजनमेंट' आ जाता। बहरहाल जहां तक मेरा अपने लिखने का सम्बन्ध है वहां तक वह सारी की सारी आन्दोलन की प्रवृत्ति ज्यों की त्यों स्थान नहीं पा सकी। और मेरे मन में जो प्रश्न उठते थे भले वे सूक्ष्मता की ओर जाते हों, उन्हीं का उत्तर मैं अपनी रचनाओं में खोजने का प्रयासी रहा।'

—'और जैसा कि कहा जाता है कि अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में प्रेमचन्द जी की आस्था मार्क्सवाद में ज्यादा होती चली गयी और गांधी जी का प्रभाव उन पर कम होता चला गया तो इस पर आप व्यक्तिगत प्रकाश डालेंगे?'

—'हां मैं जानता हूं कि गांधी जी को लेकर एक भावुक आदर्शवाद का उदय प्रेमचन्द जी में हुआ था। समय बाद उनको लगा कि वह अपर्याप्त है।

जिसको मार्क्सवाद कहते हैं, यानी गरीब और अमीर में हित-विरोध, और हित-विरोध के आधार पर संघर्ष की अनिवार्यता—यहां तक तो मैं समझता हूं प्रेमचन्द जी मार्क्सवाद से प्रभावित रहे। लेकिन उससे आगे उस श्रेणी युद्ध का औचित्य और उसका प्रतिपादन, इसके बारे में मानता हूं कि अन्त तक भी प्रेमचन्द जी मार्क्स के अनन्य समर्थक नहीं बन सके। इस सम्बन्ध में गांधी जी के प्रभाव से अन्त तक भी नहीं छूट सके। ऐसा उनमें एक नैतिक झुकाव था, वह उनके हित-विग्रह तक तो पहुंचता था, लेकिन किसी वर्ग के विनाश तक मेरे ख्याल में नहीं पहुंचता था।'

—'लक्ष्य और साधन के बारे में उनके कुछ विचारों में तबदीली आखरी दिनों में आई, आपको मालूम है?'

—'यह तो मैंने आपसे कहा कि गांधी जी मुद्रा-मूल्य को ही बदल देना चाहते थे। और उस मूल्य के बदल जाने पर तथाकथित पूंजीपति उनके लिए असह्य नहीं रह जाता था। वरन् सह्य और उपयोगी तक हो जाता था। क्योंकि अगर सिक्का केवल विनिमय का साधन है, उसके कारण किसी को सामाजिक श्रेष्ठता नहीं मिल जाती है, संपति पर अधिकार जैसा कुछ नहीं रहता है, तो पूंजी शोषण का साधन नहीं बनती, रचना और निर्माण का उपकरण भर रह जाती है। यह जो एक समग्र कल्पना थी वह प्रेमचन्द के मन पर प्रत्यक्ष नहीं हो पायी। इसलिए आर्थिक विषमता कानून के जरिये दूर की जाये, समाजवाद और साम्यवाद जैसी चीज कानून के जरिये लायी जाये, इसके प्रति उनमें आकर्षण था। मैं मानता हूं कि गांधी जी इस रूप में समाधान नहीं देखते थे आर्थिक विषमता का। वे अर्थ को जीवन-मूल्य नहीं बनने देना चाहते थे। अर्थ-मूल्य न रहे, श्रम सामाजिक मूल्य बन जाये तो अर्थ जहां भी थोड़ा-बहुत संग्रहित होगा तो उससे समाज का अहित नहीं होगा, वे ऐसा मानते थे। तो यह चीज प्रेमचन्द जी के निकट इतनी स्पष्ट नहीं हो पाती थी। और मार्क्सवाद की स्थापना में जो हित-विग्रह और हित-विरोध की बात है, कानून के जोर से जो धनापहरण और राज्यगत सम्पत्तिवाद की बात है, वह उन्हें आकर्षक तथापि किंचित अनुचित लगती थी। पूंजी पर निजी अधिकार समाप्त होना चाहिए, समाज की ओर से राज्य के अधीन सब अधिकार आ जाना चाहिए या समाजवाद आना चाहिए, इस प्रकार की दृष्टि प्रेमचन्द की हो अवश्य चली थी।

—'आपके कहने का मतलब यह है कि वह एक तरह से दूसरी तरह के नतीजे पर नहीं पहुंचे?

—'नहीं, मैं मानता हूं कि उनको मार्क्सवादी पूरे तौर पर नहीं कहा जा सकता, गांधीवादी भी पूरे तरह से नहीं कहा जा सकता, और चूंकि कोई भी वादी उन्हें नहीं कहा जा सकता इसलिए मैं मानता हूं कि वे मूल में मानव-धर्म

के साहित्यकार थे। यदि वे केवल वादी हो जाते, इधर या उधर झुकते, तो मनुष्य उनकी पकड़ से, उनकी दृष्टि से ओझल हो जाता, सिद्धान्त भर उनके हाथ मे रह जाता। तो फिर उनके साहित्य में उतनी मर्म-स्पर्शिता, स्फूर्ति-प्रेरणा नही आ सकती थी।'

महात्मा भगवानदीन संस्मरण

—'महात्मा भगवानदीन ने अपनी नौकरी कौन से सन् में छोड़ी और क्यों छोड़ी ?'

—'उन्होने जैन शास्त्रो का कुछ स्वाध्याय शुरू किया था। इसमें उनके साथी थे फतहपुर म्युनिसिपल कमेटी के सेक्रेटरी लाला गेंदनलाल। मामा जी फतहपुर के स्टेशन पर थे और स्वाध्याय के परिणामस्वरूप इन्होने कुछ प्रतिज्ञाएं ली। जैसे चोरी नही करनी है, झूट नही बोलना है, आदि। रेलवे स्टेशन पर काम करते देखते थे कि विशेष काम नही हो, कोई ट्रेन आने वाली न हो-तो रात मे कुछ नींद भी ले ली जाती है। प्रतिज्ञा के बाद यह चोरी हो नही सकती थी। एक-दो दिन के अनुभव के अनतर उन्होने पाया कि या तो नौकरी रह सकती है या व्रत रह सकता है। तीसरे रोज उन्होने निर्णय कर लिया कि नौकरी नही रह सकती और एकदम इस आशय का तार भेज दिया।'

—'कौन से सन् में ?'

—'मैं समझता हूं कि उन्नीस सौ नौ का अन्त या दस का आरम्भ रहा होगा। कारण, सन् 1911 मे तो उन्होने गुरुकुल की स्थापना कर दी हस्तिनापुर मे। नौकरी छोड़ने के बाद एक वर्ष ये घूमते रहे। घूमने मे पहले इन्होने जैन तीर्थों की यात्रा की। उसके बाद हिमालयों मे निकल गये। वापसी पर गुरुकुल कांगड़ी देखा हरिद्वार में। कांगड़ी देखने के बाद मन मे सकल्प जमा कि ऐसा ही गुरुकुल खोला जाय और उसकी स्थापना की 1911 में 'हस्तिनापुर ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम' के नाम से।'

—'सन् 1911 से 1920 तक वे वहीं रहे ?'

—'ये सरल विचारो के प्रयोगशील पुरुष थे। आश्रम जैन धर्म और समाज की प्रमुख सस्था के रूप मे शीघ्र फल-फूल उठा। वहा आलू नही खाया जाता था, न खिलाया जाता था। वे स्वयं भी आलू नही खाते थे। लेकिन तत्वाध्ययन और मनन के बाद इनको लगा कि यह परिपाटी है, इसमें धर्म का प्रश्न उतना नही है। सस्था के धर्माध्यापक से भी चर्चा की। अन्त मे कंद-मूल के त्याग को उन्होंने त्याग दिया। जब स्वयं आलू अखाद्य नही माना तो सोचा कि बच्चो को वंचित रखने का अधिकार नही है। तो बच्चो के लिए भी आलू बनने लगा। इस पर जैन समाज मे क्षोभ उठा, हो-हल्ला मचा और उस संघर्ष में इन्होंने

तय किया कि उन्हें हट जाना चाहिए; वैर-विद्वेष का निमित्त नहीं बनना चाहिए। इस वितंडा के कारण अपने स्थापित गुरुकुल से उन्हें विदा ले लेनी हुई।'

—'फिर असहयोग में भाग लेने से पहले के सालों में उनकी क्या गति-विधियाँ थीं?'

—'मैं समझता हूं कि असहयोग आन्दोलन तो खुलकर आया सन् 1920 के बाद। लेकिन सन् 1918 में युद्ध समाप्त हुआ कि तभी से खिलाफत का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। शायद असहयोग की बात खिलाफत कांफ्रेंस में सबसे पहले आयी थी। उस समय से राष्ट्रीय नवजागरण की शुरुआत हो गयी थी और मामा जी इस प्रवाह में शुरू से जुड़ गये। मैं समझता हूं कि असहयोग काल मे सबसे पहली गिरफ्तारी शायद भगवानदीन जी की हुई है पानीपत में। जैनियो का एक उत्सव था, इन्होंने वहां पर भाषण दिया था और उस पर वारंट निकला; वारन्ट पर क्या करना चाहिए इस पर मशविरा करने के लिए ये गांधी जी से मिले अहमदाबाद में। इनके मन मे भी था और गांधी जी ने भी स्पष्ट कर दिया कि वारन्ट से बचने का प्रश्न नही है। मैं समझता हूं कि यह 1919 के आरम्भ की बात होगी। तब तक गिरफ्तारियां शुरू भी नहीं हुई थी। उसके बाद मैं समझता हूं कि आश्रम छोड़कर ये वर्धा रहे थे। वर्धा में सेठ चिरंजीलाल एक कार्यकर्ता थे जो पीछे जमनालाल जी के यहां काम करते रहे। वहां कोई जैन 'बोर्डिंग हाउस' खुला था।'

'—शुरू में इनका कार्यक्षेत्र पानीपत था?'

—'नहीं, इनका कार्यक्षेत्र पानीपत नही था, पानीपत में तो एक जैन उत्सव था, उसमें वे चले गये थे। कार्यक्षेत्र इनका हस्तिनापुर के बाद वर्धा कहा जा सकता है।

ये मौलिक सूझ-बूझ वाले थे, किसी की कापी नहीं थे। गांधी जी उधर रहे, उनमे ही इनके जीवन में विशेष मोड़ आया सो नहीं। बल्कि ये अपने प्रवाह में चले जा रहे थे और ऐसा लगा कि इनका जीवन प्रवाह और गांधी जी के आन्दोलन का जो प्रवाह था—ये दोनों दिशाएं अनायास मिल जाती थी।'

असहयोग आन्दोलन (1920) : जैनेन्द्र का राजनीति में आना

—'जैनेन्द्रजी, क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि आपने बनारस हिन्दी विश्वविद्यालय से किन-किन कारणों से असहयोग किया?'

—'सन् 1920 की बात है। गाधी जी ने असहयोग की बात उठाई। कलकत्ता के विशेष अधिवेशन मे काग्रेस ने इस चीज को पास कर दिया था। एक वातावरण बन गया था और लड़के कालेज छोड़ रहे थे। तो मैंने अपने मामा महात्मा भगवानदीन जी से लिखकर पूछा कि क्या मुझे कालेज छोड़ देना चाहिए?

उनका पत्र मिला कि बड़े अफसोस की बात है, शर्म की बात है कि तुम मुझे पूछते के लिए बैठे हो। मुझे तो तुम्हें खबर देनी चाहिए थी कि कालेज की पढ़ाई तुम छोड़ चुके हो। बस यह उनका पत्र आना था कि मैंने कालेज छोड़ दिया। कालेज छोड़ने के बाद क्या करना है? जब यह प्रश्न उठा तो एकाएक कुछ समझ में नहीं आया। उसके थोड़े दिनों बाद महात्मा भगवानदीन जी तो गिरफ्तार हो गये। उनके अलावा मेरे अपने घर-परिवार में कोई था नहीं जो रास्ता दिखलाता। अपनी मां का मैं इकलौता लड़का था, और सम्बन्धी दूसरा था नहीं। कुछ दिनों के लिए मैं लाहौर चला गया। वहां लाला लाजपतराय ने 'तिलक स्कूल आफ पोलीटिक्स' खोला था। वहां गया और कुछ समय बाद चला आया। लेकिन सन् 1921 में ही, नागपुर कांग्रेस के बाद, मुझे नागपुर जाने का अवसर मिला। महात्मा भगवानदीन जी गिरफ्तार हो गये थे और मामी को वहां पहुंचाने मुझे साथ भेजा गया। मध्य प्रदेश में कांग्रेस के कार्य के लिए जबलपुर होते हुए नागपुर जाना था। जबलपुर में माखनलाल चतुर्वेदी से परिचय हुआ और स्टेशन पर संयोग से पंडित सुन्दरलालजी भी मिल गये थे। इन दोनों महानुभावों ! मिलना हुआ और कहना चाहिए कि थोड़ी-बहुत साहित्यिक आदर्शों के प्रति, मूल्या के प्रति रुचि उनके विशेषकर माखनलाल जी के, कारण हुई होगी। जबलपुर में उस समय स्कूल-कालेज से निकले बहुत से लड़के थे। एक आश्रम-सा बन गया था और वहां सुभद्रा कुमारी चौहान थी। सुभद्रा चौहान कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी और मेरा उनसे परिचय ऐसा था जैसे तल से बड़े आदमी का शिखर से हो। खैर, मैं नागपुर असहयोग आश्रम में आ गया। कुछ ही बाद माखनलाल चतुर्वेदी गिरफ्तार हो गये। उनका मुकदमा बिलासपुर में चलना था और मैं भी वहां पहुंचा। सुभद्रा चौहान भी बिलासपुर गयी थी, हमलोग असहयोग के काम में लग गये थे। गांव जाते थे, लोगों से मिलते-बताते थे और कांग्रेस के सदस्य बनाते थे। सन् 1921 की बात है। इसी दौर में छिंदवाड़ा और देहात में कुछ कांग्रेस का काम किया। उस साल के अन्त में अहमदाबाद में कांग्रेस अधिवेशन हुआ और माता जी मेरी बहन के साथ दिल्ली से वहां पहुंची। उनके साथ मैं भी वापस दिल्ली आ गया। उसके बाद सोचता हूं कि सन् 1922 होगा कि महात्मा भगवानदीन बैतूल जेल से छूटे। रिहाई के वक्त मां के साथ मैं बैतूल पहुंच गया था। वह समय ही अजीब था! माता जी वहां के अंग्रेज कलेक्टर को राखी बांधने पहुंच गयी और उसने भी भाई की तरह रस्म निभाई। तभी महात्मा जी ने कहा कि तुम यहां कांग्रेस का काम क्यों नहीं करते हो? कुछ देश का काम करो। और मैं वहीं रह गया।

अब भी मुझे याद है, यद्यपि काफी दिनों की बात है, ताप्ती नदी के किनारे एक गांव था छोटा-सा। वहां हम लोगों ने तय किया कि कांग्रेस का प्रांतीय

सम्मेलन करेंगे। मैं समझिए मुख्य प्रस्तावक था। उस समय गांव भर में बड़ा उत्साह था, कोई घर ऐसा न था जहां चरखा न हो। सारे गांव ने तय किया कि कपड़ा पंडाल में नहीं लगाया जायेगा, सिर्फ हरे पत्ते हर रोज नये लाये जायेंगे। कैसा सुन्दर लगेगा, छाया रहेगी और बचाव भी रहेगा। तभी गया में कांग्रेस होने वाली थी। और बैतूल में मैं वहां गया। मुझे काम सौंपा गया कि प्रांतीय कांग्रेस अधिवेशन के लिए अध्यक्ष पक्का करके आऊं। गया में कांग्रेस में दो दल बन गये। कुछ लोग कौंसिलों को उपयोगी और आवश्यक मानते थे और गांधी जी के कार्य-क्रम में कौंसिलों के बायकाट का सवाल था। तो गया में परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के दरमियान काफी संघर्ष रहा। यह 1922 के अंत की बात है। पंडित सुन्दरलाल उस समय महाकौशल की प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे। ई० राघवेन्द्र राव उनसे पहले अध्यक्ष थे। उन दोनों के पक्षों में काफी खींच-तान चलती थी। मैं बैतूल से प्रांतीय कांग्रेस कमेटी का सदस्य बना। पर मुझे तो इन दलों से कोई लेना-देना था नहीं और मैं अपना मत स्वतन्त्र और निरपेक्ष भाव से रखता और देता था। बाकी मैं समझता था कि यह दलबन्दी कुछ शुभ और सहायक वस्तु नहीं है। पंडित सुन्दरलाल ने मुझसे कहा कि देखो, तुम्हें हमारे अनुकूल चलना होगा। मैंने कहा कि आपके प्रति मेरा पूज्य भाव है। आप मेरे अभिभावक हैं। लेकिन जो मुझे भीतर से उचित लगे उसके सिवाय मैं दूसरा क्या कह सकता हूं? यह हो सकता है कि आप चाहें तो मैं वह जगह ही छोड़ दूं।'''संक्षेप यह कि मैं फिर वापस बैतूल गया नहीं, गया की अधिवेशन से सीधा दिल्ली आ गया। मन को बड़ा सदमा और धक्का लगा। दलगत राजनीति या शक्ति की राजनीति खोखली चीज लगी।

नागपुर झण्डा सत्याग्रह (1923)

उसके बाद सन् 1923 आता है। उस सन् में नागपुर में झण्डा सत्याग्रह शुरू हुआ। सिविल लाइन्स में झण्डे के जुलूस को लेकर जाने नहीं दिया गया था। इस पर तय हुआ कि सत्याग्रह किया जाना चाहिए। मैं उस समय दिल्ली में था। महात्मा भगवानदीन जी के पास से बुलावे का तार आया। मैं गया और नागपुर सत्याग्रह के प्रचार के काम में मुझे लगा दिया गया। नागपुर सत्याग्रह में सुभद्रा चौहान भी आ गयी थीं, उनके पति लक्ष्मण सिंह जी भी काम करते थे। एक छोटी-सी कमेटी थी, पांच आदमियों की। उनमें प्रकाशन आदि का काम माखन-लाल जी के सुपुर्द किया गया और वहां से वह मुझे सौंपा गया। मैं अनेकानेक पत्रों के सम्पाददाता के रूप में कार्य करता रहा। तो अब यह इतिहास की बात है कि लोग बड़ी संख्या में जेल गये और अन्त में समझौता हुआ। सरदार पटेल आ गये थे और उनके साथ सरकार की संधिवार्त्ता हुई। तय हुआ कि सिविल लाइन्स

मे झण्डे के जुलूस ले जाये जा सकते है और झण्डा सत्याग्रह की समाप्ति हुई। उस सत्याग्रह के समय काफी लोग ऐसे थे जिनकी याद की जा सकती है। खासतौर से हमारे रुस्तम जी अवारी। वे एक पारसी सज्जन थे, उन्होंने नौकरी छोड दी थी मिल से और तब से बराबर आन्दोलन का काम करने लग गये थे। जेल में उनके साथ बेहद सख्तियां हुई लेकिन उनकी हिम्मत को और उनकी लगन को कोई कुछ मन्द नही कर सका। अन्य प्रमुखों मे थे महात्मा भगवानदीन जी, विनोबाजी और जमानलाल बजाज। सरदार पटेल बाद मे आये। ये तो जन थे ही लेकिन उनसे दूसरी पंक्ति मे भी कुछ लोग थे जिनका योग इतना ही महत्वपूर्ण था। जैसे नीलकंठ राव और आबिद अली आदि। मैं भी अन्त मे गिरफ्तार हो गया। गिरफ्तारी के समय की बात याद आती है। मुझे सम्मन मिला था कि कचहरी में अमुक दिन दस बजे हाजिर होऊं। अब आप देखिए सन् 1923 की यह स्थिति। सम्मन के कागज के पीठ पीछे मैंने लिख दिया कि उस तारीख को आ तो सकता हू, लेकिन अगर आप असुविधा न मानें तो तीन बजे मेरी उपस्थिति हो सकेगी। इस प्रकार के विश्वस्त सम्बन्ध आपस मे बन गये थे। जो मैजिस्ट्रेट मुझे दड देने वाला था उसी मैजिस्ट्रेट को, अंग्रेज होते भी, बिलकुल अनौपचारिक रूप से कह दिया जा सकता था कि मैं अमुक समय आऊगा। मैं मुख्यतया सम्वाददाता का काम करता था। उस हैसियत से सरकारी अधिकारियो से मिलना-जुलना, आना-जाना रहता था। 'बोम्बे क्रोनिकल' के एक विशेष सम्वाददाता थे श्री राघवन। वे सत्याग्रह मे योग देने के लिए बुलाये गये। एक बार की बात है कि जिलाधीश श्री' गोवन के कमरे में मैं और राघवन बैठे हुए थे। तब राघवन ने कहा कि इनको आप जानते हैं ? वे बोले कि जानता क्यों नही बराबर तो मिलना रहता है। एक बार श्री गोवन ने सम्वाददाताओ की मीटिंग बुलाई थी और कहा कि जो आपकी 'रिपोर्ट्स' हों वे हमको दिखाकर आप भेजिए तो वे प्रमाणिक होगी। मैंने कहा कि यह व्यावहारिक और सम्भव न होगा। कुछ अप्रमाणिक हो हमारी 'रिपोर्ट्स' में तो आप खण्डन कर सकते है या बाद मे बता सकते है। ऐसा लगता है कि उस कारण मैं कुछ उनकी निगाह मे चुभ गया। अर्थात् उनकी निगाह मे एक अनमनापन साफ था। तब राघवन ने बताया कि यह महात्मा भगवानदीनजी के भांजे हैं। यह सम्बन्ध उनको मालूम नहीं था। मानते होंगे कि मैं केवल एक सम्वाददाता हूं। बस यह था कि अगले दिन ही सम्मन आ गये और झटपट सजा भी मिल गयी। पहले नागपुर जेल मे रहे, उसके बाद फिर होशगाबाद जेल लाये गये। लेकिन फिर समझौता हो गया और जेल से हमको छोड दिया गया। यह 1923 की कथा है।'

—'झण्डा सत्याग्रह में जो लोग भाग लेते थे, उसमें कौन-कौन से तबके के लोग ज्यादा थे ?'

—'चारों तरफ से और सब तरह के ही लोग आते थे—सामान्य, गुणी और प्रतिष्ठित सभी—हिन्दू-मुस्लिम, पारसी। गुजरात से बहुत बड़ा जत्था आया था और उसमें शंकरलाल द्वारकादास पारिख और हरिलाल हरजीवनदास नारियल वाला के नाम मुझे याद हैं। नारियलवाला उस वक्त असेम्बली के सदस्य थे। रविशंकर महाराज भी शायद थे। एन० एस० वरदाचारी और के० सन्तानम दक्षिण से आये थे। मुझे लगता है कि उस सत्याग्रह में भाग लेने वालों में शायद पूरा का पूरा सोसायटी का 'स्पेक्ट्रम' आ जाता था। शायद ही कोई वर्ग बचा हो। खेतीहर थे, मजदूर थे, डाक्टर थे, वकील थे और अच्छे व्यापारी भी थे। चारों ओर से लोग उमड पड़े थे। मैंने स्वयंसेवक एकत्र करने का काम थोड़ा-बहुत किया था इस समय मे, जैसे मैं इनके लिए बैतूल गया और देखा कि यदि सौ स्वयसेवकों की आवश्यकता है तो दुगने, चौगुने प्रस्तुत थे कि हमको भी अवसर दिया जाये। उत्साह का यह हाल था।'

—'जब आप लोगों को भर्ती करते थे तो क्या तथ्य आप लोगों के सामने रहते थे?'

—'झण्डे के बारे में स्थिति थी ही। लेकिन जो लोगों का जत्था जाता था सिविल लाइन्स में झण्डा लेकर तो सिरे पर ही पुलिस के सिपाही मिलते और उन्हें गिरफ्तार कर लेते। गिरफ्तारी के लिए जाने वाले लोगो को समझाया जाता था कि देखो, जेल में कष्ट हो सकता है, गोली भी चल सकती है, फांसी भी लग सकती है, क्या हो सकता है इसका कोई अनुमान नहीं है। पर हमारा हक है कि हम अपने नगर मे अपना झण्डा ले जा सकें। अगर इस हक को नही माना जाता है तो जीवन नाहक हो जाता है। उस हक को जान देकर भी प्रतिष्ठित करना है। यह हमारी लडाई है। इसमे अगर तुमको पक्का. विश्वास हो और तुम स्वेच्छा से सब कष्टो को स्वीकार कर सको, बरदाश्त कर सको, तब तुमको जाना चाहिए। अन्यथा पीछे रह कर भी दूसरी तरह के काम कर सकते हो। यह स्पष्टतया सबको बतला दिया जाता था।

मुझे याद है कि पंजाब वाले के० सन्तानम आए थे। उन्होंने एक व्यक्ति की बहुत प्रशंसा की। कहा कि इसको कुछ भी कहने-समझाने की आवश्यकता नही है। नाम उनका नहीं बता सकूंगा, वे अभी हैं। पर जेल जाने पर माफी मांगने वालों में दिखाई दिए। यह सब था, पर कुछ लोग, खासकर वहां महाराष्ट्रीय जन जैसे माधव श्रीहरि अणे, मोरेश्वर वासुदेव अभ्यंकर, चोलकर, मुंजे आदि विरोध में थे। श्री अभ्यकर और अणे से मेरी बात हुई, और वे काफी हल्के ढंग से इस बारे में सोचते थे। एक बात और शायद उल्लेखनीय मान ली जाए। डा० केशव बलिराम हेडगेवार जो बाद मे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक बने, सन् 1921 में कांग्रेस में थे। मुझे याद है कि मेरे प्रति बहुत अच्छे भाव रखते थे

और मिलकर हम सभाओं मे जाया करते थे। माधव सदाशिवराव गोलवलकर (गुरुजी) को सब जानते हैं। एक बार की बात है कि गोलवलकर उसी हवाई जहाज से दिल्ली से नागपुर जा रहे थे जिससे मुझे जाना था। यह तब की बात है जब वायुयात्रा आरम्भ ही हुई थी। मैं जा रहा था हैदराबाद। बीच मे वे उठकर मेरे पास आ गए। बैठे और कहा, 'जैनेन्द्र, मेरा तुम्हारा परिचय है।' मैंने कहा कि परिचय तो अभी लाला हंसराज जी ने कराया है। बोले, 'यह परिचय नहीं, पुराना परिचय है।' मैं विस्मय मे पड़ा तो उन्होने बतलाया कि हेडगेवार डायरी लिखा करते थे और उनकी डायरी में तुम्हारा कई जगह जिक्र आता है। उन दिनों भी डाक्टर हेडगेवार के चित्त में कुछ अपने विचार थे कि किस प्रकार देश संगठित होना चाहिए। किन्तु कार्य कांग्रेस में करते थे। आगे जाकर कांग्रेस के स्थानीय नेतृत्व से उनको कुछ असन्तोष हुआ और उन्होंने अपना नया मार्ग धारण किया।'

महात्मा गांधी : जैनेन्द्र की दृष्टि में

—'अणे और अभ्यंकर झण्डा सत्याग्रह के पक्ष में नहीं थे। तो जब उनसे आपकी बातचीत हुई तो उनके क्या तर्क थे उसके विरुद्ध ?'

'तर्क-वितर्क को क्या कही ढूंढने जाना होता है ? वे तो गाधीजी को ही कुछ महत्व देने को तैयार नही थे। मजाक उडाते थे। जैसे कि गणेश श्री कृष्ण खापर्डे साहब। एक बार सुभाष बोस रेलगाड़ी से उधर से गुजरे। मैं संवाददाता था ही, हर जगह पहुंच सकता था। स्टेशन पर मै उस डब्बे में गया तो वहा ये लोग भी थे। अभ्यंकर थे, अणे भी थे। यह काफी दिनो की बात है। सन् 1923 मे, मैं तो छोटा ही रहा हूगा। समझिए कि कोई 17-18 वर्ष का। इसलिए बढकर उनके साथ तर्क तो नही कर सकता था, लेकिन सत्याग्रह के महत्व पर उनका ध्यान नही था। वे समझते थे कि यह एक तमाशा है।"

—'अणे और अन्य लोगों का जो विरोध था, क्या यह इसलिए था कि गांधी जी के लोग झण्डा सत्याग्रह चला रहे थे ?'

—'मूलतः विचारधारा का अन्तर था। गांधी जी के ढंग से सोचने वाले इसके पक्ष मे थे लेकिन दूसरे तरीके से सोचने वाले, जिसको तिलक का तरीका कहा जा सकता है, वे लोग प्रभावित नही थे। सत्याग्रह इत्यादि मे शायद उतनी आस्था नही रखते थे। यही कारण रहा होगा, मैं सोचता हूं।'

हिन्दू-मुसलमानों के आपसी सम्बन्ध (1922 के बाद)

'उसके बाद सन् 1923 में झण्डा सत्याग्रह की सफल समाप्ति पर हम दिल्ली आ गए। होशंगाबाद जेल मे रिहाई पर वापस नागपुर वगैरह कही जाने का सवाल नही आया। दिल्ली में हिन्दू-मुस्लिम झगडा हुआ। कुछ हत्यायें हुईं। बहुत से लोग जख्मी हुए और गांधी जी ने अपना उपवास किया पहला, यही दिल्ली में। मौलाना मुहम्मद अली की जगह पर उनके उपवास का प्रारम्भ हुआ और उस उपवास के परिणामस्वरूप यहा एक 'यूनिटी कांफ्रेंस' की गयी थी, काफी बडे पैमाने पर, और उसका प्रभाव अच्छा पड़ा। गांधी जी का उपवास टूटा। मुझे उस समय गांधी जी के पास कई बार उपस्थित होने का अवसर मिला।

आर्य समाज का अपना एक सोचने का ढंग था। उनमें मुसलमानों के लिए मान्यता थी कि मुख्यता से इनके विचार, इनकी आस्था, इनकी वफादारी अधिक साम्प्रदायिक है, बाहर विदेश में, यानी अपने स्वदेश भारतवर्ष से बाहर, इनका मन रहता है और इसलिए इनसे कोई मेल नही हो सकता है। गांधी जी ने आर्य-समाज के सम्बन्ध में कुछ लिखा था जो उनको प्रिय नहीं हुआ था। आर्यसमाज के नेतागण उनके पास पहुंचे और अपनी शिकायतें रखी, विशेषकर स्वामी दयानन्द और 'सत्यार्थ प्रकाश' पर उनकी टीका के बारे में। गाधी जी ने इतना ही कहा कि मैं बहस तो क्या कर सकता हूं। लेकिन मेरे मन पर जो छाप पड़ी उसके हिसाब से मैंने लिखा है। मैंने देखा कि गाँधी जी में नम्रता बेहद थी, लेकिन सत्य के प्रति उनका आग्रह और उसके सम्बन्ध में दृढ़ता और अटलता भी पूरी थी। पर नम्रता समीक्षा को कटु नहीं बनने देती थी। परस्परता के सूत्र को टूटने नही देती थी। नम्रता रहती, साथ दृढ़ता भी निभती थी। यह अनुभव था तब का।'

—'जब आपने कालेज छोड़ा तो उस वक्त आपके साथ और विद्यार्थियों ने भी छोड़ा या आप अकेले ही थे ?'

'—नही, असल में बहुत से विद्यार्थियों ने छोड़ा। आचार्य कृपलानी उन दिनों सेंट्रल हिन्दू कालेज, बनारस मे पढ़ाते थे। बनारस यूनिवर्सिटी तभी बनी थी, उनके साथ बहुत से लोगों ने छोड़ा। खास तौर से गाधी आश्रम के जो प्रमुख कार्यकर्त्ता बने वे सबके सब बनारस के छोड़े हुए थे, जैसे कि विचित्र नारायण, कपिल, राजाराम भाई, धीरेन्द्र भाई। यह सब लोग वही के असहयोगी हैं। लेकिन मेरी स्थिति कुछ विचित्र थी। कुछ मैं उम्र में भी कम था और मुझ में हीनभाव बेहद था। इसलिए कृपलानी के समुदाय में नही मिल सका, कुछ अकेला-अकेला-सा ही रहा। लाल बहादुर शास्त्री ने भी बनारस से [illegible]

खयाल मे टी० एन० सिंह भी वहीं थे। लाल बहादुर शायद उस समय स्कूल में थे, मैं कालेज में था। गांधी आश्रम की स्थापना लगभग वहीं हो गई। जिन लड़कों ने छोड़ा उनको लेकर आचार्य कृपलानी बैठ गये और वहीं एक संस्था का निर्माण हो गया। काशी के सेठ शिवप्रसाद गुप्त मे बहुत उत्कट राष्ट्रीय भावना थी और मानना चाहिए कि काशी विद्यापीठ का सूत्रपात वहीं से हुआ। विद्यार्थी लोग जुट गये और एक संस्था का निर्माण हो गया।'

—'विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय छोड़ने के लिए जो प्रोत्साहन मिला उसमें कृपलानी जी का भी कुछ हाथ था ?'

कृपलानी जी का काफी कुछ हाथ था। लेकिन गांधी जी जब आये तो मुझे याद है लड़के उनके पास पहुंचे। मामूली तौर पर गांधी जी का यह कहना था कि यह शिक्षण तो विषैला है। इस शिक्षण से हमें अलग हट जाना चाहिए, इसे त्याग देना चाहिए। लेकिन जब उनसे व्यक्तिशः विद्यार्थी पूछने जाते थे तो वे कहते थे कि भाई मालवीय जी से पूछ लो। यानी मालवीय जी के विरुद्ध चलो, ऐसा संकेत वे कभी नहीं देते थे। यद्यपि उनका विचार था कि कालेज छोड़ना चाहिए विद्यार्थियों को। लेकिन व्यक्तिशः पूछे जाने पर वे कहते थे कि महामना मालवीय जी से मिलो और फिर जैसा तुम उचित समझो, करो। उनकी बात रख सकते हो तो रखो।'

—'आप लोगों ने कालेज गांधी जी के कहने पर छोड़ा था वाकई आप लोगों ने समझा कि ऐसा करने से देश का उद्धार होगा ?'

—'यह तो बहुत मुश्किल है—अपने सम्बन्ध में स्वयं अपने मन का विश्लेषण कर पाना। लेकिन जहां तक मैं अपनी बात कहता हूं उसके जो फलितार्थ थे, वे शायद उतने स्पष्ट मेरे मन में नहीं थे। एक जोश था, एक हवा चली और उसमें लगा कि ऐसा ही करना चाहिए। खासतौर से महात्मा भगवानदीन [illegible] जी एक पत्र आया कि शर्म की बात है कि तुम [illegible] पढ़ने बैठे हो [illegible] लगा कि अब इसमें बाकी कुछ बचा ही नहीं [illegible] देना है [illegible]

—'जब आपने गांधी जी को पहली बार देखा और उनका भाषण सुना उस वक्त वे इक्यावन वर्ष के थे, उनके भाषण बहुत जोशीले नहीं होते थे, हिन्दी टूटी फूटी बोलते थे। तो क्या चीज नौजवानों को उनकी तरफ आकर्षित करती थी?'

—'जोशीले तो खैर उनके भाषण इक्यावन वर्ष की उम्र मे क्या, पीछे या पहले भी नही हुए होगे। उनकी भाषा संतुलित रहती थी, उसमे कभी आवेश नही रहता था, लेकिन सच्चाई की दमक कुछ ऐसी थी, जो छू जाती थी और जिसको आवेश वाला जोश कहते है, वह नही होता था, लेकिन तो भी इतनी जबरदस्त चुनौती रहती थी, एक प्रकार की अदम्यता रहती थी कि सामने वाला उससे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता था। उसका विश्लेषण कर सकना बहुत कठिन है। गाधीजी के पास पहुँचकर एक बात जो मैंने अनुभव की, और जिसका तर्क बिलकुल हाथ नही आता है, वह यह कि यदि जैनेन्द्र उनके पास जाए तो लौटने पर अनुभव होता था कि वह सवा जैनेन्द्र बन गया है। हर कोई जितना जाता उससे बढकर लौटता था। मान लीजिए कोई जैन है तो और पक्का जैन होकर लौटता। लेकिन मान लीजिए कि कोई मुसलमान जाता है तो वह उतना ही पक्का मुसलमान बनकर लौटता था। प्रत्येक व्यक्ति जो पास जाता था, अपने को बढ़ा हुआ अनुभव करता था, और मै मानता हूँ कि यह चमत्कार एक ऐसा चमत्कार था उसके बाद मैंने तो किसी भी व्यक्ति में वह बात देखी नही। और मैं इस विशेपता को बहुत समझने की कोशिश करता हूँ, उसके तर्क को, तुक को, तो समझ नहीं पाता हूँ कि यह कैसे सम्भव होता है। तो गांधी जी का जादू कुछ यह था। मुझसे विमुख कोई जायेगा, वह भी वहाँ से अपने को बढ़ा-चढ़ा अनुभव करके लौटेगा, मैं जाऊँगा तो मैं अपने मे सवाया-ड्योढ़ा अनुभव करता हुआ लौटूँगा। मानो हरेक के व्यक्तित्व में, उस उपस्थिति मे ऐसा कुछ उभार, उन्मेष भर आता था कि आदमी हमेशा के लिए अपने से भी अधिक उनका हो जाता था। अधिकांश नेतागण हैं कि जिनके पास पहुँचकर आप अपने को छोटा अनुभव करते है। यदि ऐसा होता है तो हां आकर्पण कैसे निर्माण पा सकता है? गांधीजी के पास होकर मानो आपके अन्दर की सब सम्भावनाएँ जी और जाग जाती थी। ऐसा मालूम होता था कि कुछ नही है जो आप नही कर सकते हैं। जैसे उनकी आत्मशक्ति आप मे वह आती हो। इसको मैं एक अनोखी प्रक्रिया ही कहता हूँ, क्योंकि मेरी समझ मे नही आता है कि यह कैसे सम्भव है। यह सम्भव तभी हो सकता है जबकि पुरुप नितांत, निःस्व और प्रेमल हो जाये। निज मे इतना विमुक्त हो जाये कि दूसरे के स्व मे अनायास ढल जाये। यह उसके लिए सम्भव हो सकता है जिसको मुक्त-आत्मा कहते हैं। इसे एक दैवी विशेपता ही कहिए।'

—'गांधीजी के भाषण जो आपने सुने, शायद वे दिमाग को इतना ज्यादा अपील नहीं करते थे, जितना दिल को करते थे और शायद दिल से अधिक आत्मा को। वे क्या उसको बड़ी गहराई से झिझोड़ देते थे ?'

—'यह बात बिल्कुल ठीक है। मैं तो बल्कि कहता हूँ कि विनोबा जी बोलते हैं तो लगता है उपनिषद् ही बोल रहा है, उसमें 'पक्चुएशन्स' तक ज्यों-की-त्यों मौजूद हैं। यानी शास्त्र बुल रहा है। और गांधीजी जब बोलते थे तो लगता था कि यह कुछ ऐसी निर्गुण वाणी है जो सुनने वाले और कहने वाले के बीच संवादिता स्थापित कर स्वयं गायब हो गई है। यानी पुस्तक नहीं है, उसमें स्वतंत्र रूप नहीं है। उसको 'रिकार्ड' करें तो लगता है कि पुस्तक नहीं बनती है; उसमें व्याकरण नहीं होता, शुद्धता नहीं होती। आप उसको हृदय की भाषा कहना चाहें तो कहें। लेकिन मैं मानता हूँ कि हृदय की तो वह थी ही, लेकिन भाषा में उनकी आत्म-व्यथा इस तरह से ध्वनित और व्यंजित होती थी कि भाषा बोली जा रही है, यह सुनने वाले को पता ही नहीं रहता था। यानी भाषा का अस्तित्व समाप्त हो जाता था और एक अभेद सुनने और बोलने वाले के बीच में बनने लग जाता था। गाधीजी के बारे मे यह अद्भुत अनुभव आता था। भाषा के मिस व्यक्ति जैसे एक-दूसरे को प्राप्त कर रहा हो, ऐसा लगता था।'

—'सन् 1919 में एक ऐसा तूफान आया और सब वर्गों के लोग गांधी जी की ओर खिचते चले गये। आपके विचार में इसका क्या कारण हो सकता है ?'

—'कारण समझने को शेष रह ही जाता है। राजनीति के क्षेत्र में बुद्धि और प्रतिभा की प्रखरता और वाग्मिता से तो लोगो का परिचय था। गाधीजी के विषय मे प्रतीत हुआ कि उस परम्परा मे वे कही आते ही नही हैं। बिल्कुल जैसे एक नया तत्व लोगो के सामने आया हो, ऐसा भारतवर्ष को लगा और इस प्रचड आकर्षण को किसी प्रकार के प्राचीर रोक नही सके। ऊँचे मे ऊँचे बुद्धिवादी वाग्मी नेता, आलोचक और कानून के पण्डित, सबके सब खिचते चले आये। कारण यही कि ऐसा विलक्षण, आश्चर्यजनक 'फिनोमिना' सामने था जिसने विश्लेषण का अवकाश न दिया। सच यह कि उनसे एक असह्य चुनौती आदमी को मिली। लोगों को लगा कि जैसे उनका अन्तःकरण ही उनके रूप मे स्वरूप ले उठा है, मानो अतस्य भगवान हो उनके सामने आ खडे हुए हैं। उस प्रेम की फटकार और ललकार के समक्ष सब मे एक आत्मस्फूर्ति जगी। आत्मानुभूति कौंधी कि हम खुद अपनी तरफ नही चल रहे थे, अपने से दूर भटकते हुए चले जा रहे थे। अब शायद अपने को हम पा रहे हैं तो आत्म-लाभ का-सा आनन्द और उपलब्धि राष्ट्र को अनुभव हुई। मैं मानता हूँ कि यह कारण रहा होगा कि हर प्रकार

के आदमी झुक पड़े गांधीजी के इस आन्दोलन में।'

—'आपने अभी कहा कि वे जब विद्यार्थियों से विश्वविद्यालय में मिले, हिंदू विश्वविद्यालय में, तो उन्होंने कहा कि मालवीय जी से आप मिलिये। तो क्या आपको उस वक्त ऐसा लगा या अभी ऐसा लगता है कि ऐसी बात करने में केवल शिष्टता ही नहीं थी बल्कि गहरी राजनीति भी थी। वे अपने आलोचकों को बहुत ज्यादा दूर नहीं करते थे, बल्कि और ज्यादा नजदीक लाने की कोशिश करते थे ?'

—'अब आपको कहना पड़ रहा है कि गहरी राजनीति थी। तो यह गहरी क्यों कहना पड़ रहा है ? मतलब यह है कि कोरमकोर राजनीतिक निपुणता और शिष्टता नही थी, बल्कि वह उससे कुछ गहरी चीज थी। और मैं मानता हूँ कि गांधीजी की सफलता का सचमुच एक भेद यह है कि वे अपने से अलग, यहाँ तक कि विरोधी विचार रखने वालों के प्रति भी मन में वही प्रीति और आदर का भाव रखते थे। बल्कि कुछ अधिक। यह केवल औपचारिकता नहीं थी, बल्कि उनके व्यक्तित्व में रची-रमी सत्यता थी। जगत भर के लिए आदर उनमें उतना गहरा रमा हुआ था। इसी का परिणाम था कि उनके विरोधी भी उनसे बिछुड़े नहीं रह पाये। अन्त तक जो उनके दुश्मन ही रहे सो इसलिए कि दूर-दूर से गांधी जी के बारे मे उन्होंने अपनी कल्पना बनाई और उससे डर का नाता जोड़ा। कहिए कि उस भय ने आकर्षण को विकर्षण का रूप दे दिया। उनकी बात मनो-विज्ञान के लिए छोड़ दीजिए। और मैं मानता हूँ कि गोडसे का अगर यह भाग्य होता कि वे गांधी जी के निकट सम्पर्क में आ पाते तो गांधी जी को मारते ही उन्हें पता चल जाता कि असली गांधी और है, यह वह आदमी नहीं है। जो दूर-दूर रहे, गांधी जी से निकट सम्पर्क से बचे रहे, उन्होने कल्पना में जाने क्या-क्या रूप बना लिए। उन्ही भूतो को फिर मारना चाहा या कोसना चाहा। लेकिन गांधी जी के स्पर्श में जो एक दफा आ गये, उन्होंने देखा कि यह अपने किसी मतवाद में बन्द आदमी नही है। इसकी सहानुभूति खुली है और विरोधी से भी विरोधी के प्रति उसके मन में गहरा सवेदन और स्नेह है। यह पूर्णतः सच है कि अवसर आता तो अपने प्रचण्ड-से-प्रचण्ड विरोधी के लिए भी अपनी जान निछावर कर देने में उनको तनिक सोच या विलम्ब न होता। इतनी उनमें एकात्मक भावना थी। बिना किसी शर्त के, बिना किसी माँग के प्रत्येक व्यक्ति के लिए वह जीवनोत्सर्ग को उद्यत तथा लालायित थे। उनकी इस आन्तरिक सच्चाई का बाहर वृहत् परिणाम हुआ। मुझे किसी ने बताया था और मैं इसका विश्वास करता हूँ। पंजाब के 'मार्शल ला' में बहुत जानें गयी। मालवीय जी पहुँचे। मालवीय जी तो बहुत ही सहृदय और कोमल चित्त के पुरुष थे। उनके उमड़े आँसू रुकते न थे।

खतरे में है। क्या आम मुसलमान भी ऐसा मानते थे ?'

'हाँ, यह बात मैं मानता हूँ। मानना होगा कि खिलाफत आन्दोलन के लिए उस समय आम मुसलमान गहरा अहसास रखता था। यह सन् 1921 की ही बात होगी। मैं खुद सदर बाजार में रहता था। वहाँ कांग्रेस कमेटी बनी। उस समय सदर बाजार मे मुसलमान कारबारी ज्यादा थे। शायद 80 फीसदी कांग्रेस कमेटी के लोग खिलाफत आन्दोलन के मुस्लिम थे। उस जमाने में खिलाफत आन्दोलन और राष्ट्र की स्वतंत्रता का, स्वराज्य का आन्दोलन, ये जैसे दो अलग-अलग धाराएँ ही नही रह गयी थी। मुसलमानों में खिलाफत के लिए तीव्र भावना थी। खिलाफत के आन्दोलन के लिए औचित्य कितना था, कितना वह टिक सकता था इत्यादि प्रश्न दूसरा है। किन्तु गांधीजी ने माना कि यह मेरा मजहबी प्रश्न नही है, यह तो मुसलमानों का अपना प्रश्न है। लेकिन मुसलमानो में इस बारे में इतनी तीव्र भावना है, इतना मेरे लिए पर्याप्त है कि मैं उसे अपना मान लूं। यह तर्क धार्मिक व्यक्ति की दृष्टि से बिल्कुल ठीक ही था। मुसलमानों मे उस समय काफी क्षोभ था अपने खिलाफत को लेकर, यह सच बात है।

'उस समय की कहानी तो आप जानते हैं। दिल्ली की जामा मस्जिद पर सबसे प्रमुख आर्य समाजी स्वामी श्रद्धानन्द जी को ले जाया गया, और जहाँ पर इमाम ही बैठ सकता है, वाज करता है, वहाँ से उनको बुलवाया गया। यह उस समय की भावना थी।'

'—तीन साल के हिन्दू मुस्लिम भाईचारे के बाद सन् 1923 में दिल्ली और मुलतान में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। यह एकता क्यों टूटी ?'

—'मैं मानता हूँ कि आप जिस तरह से देखते है कि एकता टूटी, तो मैं कहता हूँ कि अनेकता जो चली आ रही थी वह हमारी नसो में पैवस्त थी बहुत दूर तक। एकता थी कहा, जिसको हम टूटी कहते है, वह हमारे भीतर समाया हुआ शकोसुबह का जहर था जो फूटा। मैं मानता हूँ कि पुराने जमाने से हिन्दू और मुस्लिम इन दोनों शब्दों को इस तरह से पकड़कर अलग-अलग बिठाया गया कि एक संशय हमारी नसो में, खून में घुल गया था। बहुत से सन्त लोग आये कि जिन्होंने इस विष को काटना चाहा, लेकिन विष तो सदियो से बनता रहा था और हमारे अन्दर पैवस्त होता रहा था, वह सहसा कट नही सकता था। फिर वह दुई अंग्रेज के फायदे की थी। उसने इसकी बुनियादों को मजबूत करने की खूब चालें चली। गांधी जी ने जो प्रयत्न किया और उसके जो परिणाम उनको दिखलायी दिये, उस पर तो विस्मय होना चाहिए। किन्तु मैं मानता हूं कि शायद एक गांधी काफी नही है, इस विष को हजम करने के लिए और भी गांधियों की आवश्यकता हो सकती है।'

विधवा आती जिसने अपना पति खोया था, माँ आती थी जिसके बच्चे चले गये थे। तो उन सबके लिए उनकी आँखों में आँसू बह आते थे, वे विह्वल हो जाते थे। गाधीजी गये। दुःखी उनके पास आता तो सम्वेदना का एक शब्द उनके मुंह से नही निकलता था। बल्कि कहते थे 'अच्छा' तुम्हारे दो बेटे गये। और कोई है? उसको भी तैयार करो।' उनके सम्बोधन में शोक-विषाद नही रहता था। लेकिन अतरग मे तडप ऐसी थी, शूरवीरता से भरी कि पंजाब उन पर लट्टू हो गया, उनके पीछे दीवाना बन गया। आँखो मे आँसू एक नही, लेकिन हृदय इतना विदग्ध, यद्यपि प्रणवान, कि सामने वाला व्यक्ति स्वयं अपने शोक को भूल रहता और फिर उसमें से शक्ति उपजा आता था। तो यह जो चीज है, इतनी एक गहन सवेदन और व्यथा जो प्रकट होने की आवश्यकता में नही रहती, प्रत्युत प्रगट पराक्रम के रूप में होती है – यह थी जो गाधी जी की विशेषता थी।'

हिन्दू-मुस्लिम यूनिट कांफ्रेंस (1924)

—'शुरू में गांधीजी का झुकाव ज्यादा मुसलमानों की तरफ था। इसका आप क्या कारण समझते हैं?"

—'गांधी जी असल मे धर्म के व्यक्ति थे। उन्होंने कहा भी है कि बहुत से लोग ऐसे मिलेंगे कि जो धार्मिक दीखते है। लेकिन असल में अन्दर से वे राजनीतिज्ञ है। मैं राजनीति के क्षेत्र मे दिखाई देता हूं लेकिन मैं अपने बारे मे मानता हूँ कि धार्मिक हूँ। तो यह जो एक दूसरे के प्रति संशय है, अविश्वास है, यह उनको चुभता था। भारतीय जीवन मे धर्म के कारण जो यह भेद पड़ गया है उनको सर्वथा अनर्थ मालूम होता था, अधर्म मालूम होता था। हिन्दू-मुस्लिम एकता, जिसमे शेष सम्प्रदाय के लोग भी गर्भित हो जाते है, उनके कार्यक्रम का एक विशेष स्तम्भ थी। मैं मानता हू कि यह उनकी कोई योजना नही थी, उनके कुल व्यक्तित्व की प्रकृति ही ऐसी थी। यह उनके लिए असह्य था कि धर्म के कारण आपसी वैमनस्य हो। संशय और अविश्वास के वातावरण को वे सह नही सकते थे। जब गाधी जी भारतवर्ष के राजकारण के क्षेत्र मे आये तब से कहना चाहिए कि सारे राजकरण का नैतिकीकरण हुआ, यानी वह कुछ आध्यात्मिक होता गया। और यदि ऐसा होना था तो जो दो मुख्य वर्ग थे, हिन्दू और मुस्लिम, उनके बीच मे पूरा ऐक्य हो, यह उनके कार्यक्रम का ध्रुव बने बिना कैसे रहता?'

—'जैसा उस वक्त आमतौर पर कहा जाता था कि मुसलमान खिलाफत के बारे में बहुत क्षुब्ध थे और इसलिए गांधी जी ने उस पर बहुत जोर दिया। मुसलमान सचमुच क्षुब्ध थे कि खिलाफत खत्म की जा रही है और उनका धर्म

खतरे में है। क्या आम मुसलमान भी ऐसा मानते थे ?'

'हां, यह बात मैं मानता हूँ। मानना होगा कि खिलाफत आन्दोलन के लिए उस समय आम मुसलमान गहरा अहसास रखता था। यह सन् 1921 की ही बात होगी। मैं खुद सदर बाजार मे रहता था। वहाँ कांग्रेस कमेटी बनी। उस समय सदर बाजार में मुसलमान कारबारी ज्यादा थे। शायद 80 फीसदी कांग्रेस कमेटी के लोग खिलाफत आन्दोलन के मुस्लिम थे। उस जमाने में खिलाफत आन्दोलन और राष्ट्र की स्वतंत्रता का, स्वराज्य का आन्दोलन, ये जैसे दो अलग-अलग धाराएँ ही नही रह गयी थी। मुसलमानो में खिलाफत के लिए तीव्र भावना थी। खिलाफत के आन्दोलन के लिए औचित्य कितना था, कितना वह टिक सकता था इत्यादि प्रश्न दूसरा है। किन्तु गांधीजी ने माना कि यह मेरा मजहबी प्रश्न नही है, यह तो मुसलमानों का अपना प्रश्न है। लेकिन मुसलमानों मे इस बारे मे इतनी तीव्र भावना है, इतना मेरे लिए पर्याप्त है कि मैं उसे अपना मान लूं। यह तर्क धार्मिक व्यक्ति की दृष्टि से बिल्कुल ठीक ही था। मुसलमानो में उस समय काफी क्षोभ था अपने खिलाफत को लेकर, यह सच बात है।

'उस समय की कहानी तो आप जानते हैं। दिल्ली की जामा मस्जिद पर सबसे प्रमुख आर्य समाजी स्वामी श्रद्धानन्द जी को ले जाया गया, और जहाँ पर इमाम ही बैठ सकता है, वाज करता है, वहाँ से उनको बुलवाया गया। यह उस समय की भावना थी।'

'—तीन साल के हिन्दू मुस्लिम भाईचारे के बाद सन् 1923 में दिल्ली और मुलतान में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। यह एकता क्यों टूटी ?'

—'मैं मानता हूँ कि आप जिस तरह से देखते है कि एकता टूटी, तो मैं कहता हूं कि अनेकता जो चली आ रही थी वह हमारी नसो मे पैवस्त थी बहुत दूर तक। एकता थी कहां, जिसको हम टूटी कहते है, वह हमारे भीतर समाया हुआ शकोशुबह का जहर था जो फूटा। मैं मानता हूं कि पुराने जमाने से हिन्दू और मुस्लिम इन दोनो शब्दों को इस तरह से पकड़कर अलग-अलग बिठाया गया कि एक सशय हमारी नसो में, खून में घुल गया था। बहुत से सन्त लोग आये कि जिन्होने इस विष को काटना चाहा, लेकिन विष तो सदियो से बनता रहा था और हमारे अन्दर पैबस्त होता रहा था, वह सहसा कट नही सकता था। फिर वह दुई अग्रेज के फायदे की थी। उसने इसकी बुनियादो को मजबूत करने की खूब चाले चली। गाधी जी ने जो प्रयत्न किया और उसके जो परिणाम उनको दिखलायी दिये, उस पर तो विस्मय होना चाहिए। किन्तु मैं मानता हूं कि शायद एक गांधी काफी नही है, इस विष को हजम करने के लिए और भी गाधियों की आवश्यकता हो सकती है।'

—'जैसा आपने कहा कि 'हिन्दू-मुस्लिम यूनिटी कांफ्रेंस' हुई थी जब गांधी जी ने 21 दिन का व्रत रखा, उसके बारे में आपके क्या कुछ संस्मरण हैं ?'

—'एक संस्मरण यह है कि कुछ लोग इस विचार के थे कि मजहब सदा लडाता है। हिन्दुत्व और इस्लाम रहेंगे तो तकरार भी रहेगी। मेल के लिए नास्तिकता का आधार अच्छा रहेगा। सरोजनी नायडू, डा० भगवान दास, पंडित सुन्दरलाल और इस तरह के कुछ और लोग जमा हुए जिन्होंने कहा कि लामजह-बीयत शुरू करनी चाहिए। उसके आधार पर फिर इंसानियत को खड़ा किया जा सकता है। यह जो मजहबी जुनून पैदा हो जाता है धर्मविश, उसके लिए कोई मौका रहेगा ही नही। यानी नितात सेक्युलरिज्म रह जाए। उन्होंने दो बैठकें की। वह नास्तिकता मुझको थोडी दिलचस्प चीज मालूम हुई थी। जब यह चीज कुछ आगे बढी तो डा० भगवान दास का ठीक 'रिमार्क' तो मुझे याद नही रहा, लेकिन उन्होने कहा कि ठीक है, तुम कहते हो कि खुदा नही है। लेकिन जो है वह हमारे नही कहने से नही तो हो नही जायेगा, पर आप चाहते हैं तो कोशिश कर देखिये। फिर वह कोशिश बर नही आयी। लेकिन यह मुझको एक रुचिकर रूख लगा, गांधी जी से बरअक्स, जो पास ही थे। संगम थियेटर मे, जो आजकल जगत सिनेमा है, इसमें हुई थी यह 'यूनिटी कान्फ्रेंस'। और पास ही से मौलाना मुहम्मद अली साहब का अखबार 'हमदर्द' निकलता था। यह जगह ज्यादा दूर नही थी। वही गांधी जी थे। उपवास के वक्त गांधी जी सिमटे-सुकड़े से पड़े रहते थे, शायद तीन 'स्क्वेयर फीट' से ज्यादा जगह में वे नही थे। बहुत दुबले हो गए थे और फुसफुसाकर बोलते थे। 'मैट्रोपोलिटन आफ इंडिया भी आये थे तो उस समय यह 'यूनिटी कान्फ्रेंस' सफल 'कान्फ्रेंस' हुई थी, यही मानना चाहिए। क्योंकि सब लोगो ने आपस मे मिलकर एक सहमति पत्र को स्वीकृत किया और उस पर सब के हस्ताक्षर हुए।

'एक उल्लेखनीय बात यह है कि उसी समय जमुना मे बड़ी जबरदस्त बाढ आयी हुई थी और लोग 'कान्फ्रेंस' से उठकर जमुना पुल पर गये थे। उस बाढ मे बहुत से लोग छप्पर पर बैठे बहते चले जाते दीखते थे। उसमे पशु होते थे, जहरीले सांप होते थे और मनुष्य भी। लेकिन बीच का भय विरोध सब खत्म था। बहुत जबरदस्त बाढ थी। उस समय जो 'यूनिटी कान्फ्रेंस' मे आये हुए थे उनमें बहुत से लोगो ने हिम्मत के साथ आगे बढ़कर उस रक्षा के काम मे भाग भी लिया। हम लोग तो थे ही वालीन्टियर्स के तौर पर। वह दृश्य काफी दर्दनाक होता था, कि जब ऊपर से रस्सा लटकाते और वह हाथ न आता और हमारे देखते-देखते लोग, बच्चे, औरतें, बूढे, बाढ़ मे बहते आगे निकल जाते। 'यूनिटी कान्फ्रेंस' मे आये लोगो ने उसमे काफी भाग लिया और साबित होता है कि इंसान

मुसावत में एक होता है।

—'अभी आपने जफरअली खां के बारे में कहा कि वे बाद में मुस्लिम लीगी हो गये थे। अक्सर मुसलमान जो पहले कांग्रेस में थे जैसे जफरअली खां मौलाना शौकतअली, मौलाना मुहम्मदअली, मौलाना हसरत मोहानी। इन लोगों का झुकाव बाद में मुस्लिम लीग की तरफ हो गया था। तो क्या आप कुछ कारणों पर प्रकाश डाल सकेंगे कि यह क्यों हुआ?'

—'मैं इसका मुख्य कारण यह मानता हूं कि गांधी जी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के नीचे धर्म-भाव की भूमिका चाहते थे। लेकिन शेष कांग्रेसजन उस धर्म-भाव से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, वे राजनीतिक और लौकिक भूमिका से संतुष्ट थे। मैं मानता हूं कि 'मुस्लिम मास कंटैक्ट', यानी हिन्दू-मुस्लिम मेल के लिए व्यापक मुस्लिम-सम्पर्क का जो एक मुहिम चलाया गया, उसमें लौकिक और राजनीतिक भावना विशेष थी। उस प्रचार की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। गांधी जी जो मेल-मिलाप की भूमिका में धर्म-भाव चाहते थे उसका अवकाश कम रह गया। परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम मानस का नेतृत्व लीग के हाथ में पहुंच गया, मजहबी जमीयत के हाथ नहीं रहा। जमीयतुलउलमा वह संस्था थी जो अन्त तक राष्ट्रीयता पर थोड़ी टिकी रही। कारण, दुनिया से अधिक उसका दीन के साथ सम्बन्ध था। लेकिन मामला दुनियाबी बदाबदी का बना तो नेतृत्व जिन्ना या मुस्लिम लीग के हाथ में चला गया। जिन्ना साहब के सम्बन्ध में मैं नहीं कह सकता कि वह नमाज अरबी में अदा कर सकते थे या नहीं। कुरान जानते थे या नहीं जानते थे। लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनका नेतृत्व धर्म प्रधान नहीं था, धर्माचरण पर उनका ज़रा ज़ोर नहीं था। कांग्रेस और गांधी की मनोभूमि के इस अन्तर से हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न दयानत का नहीं रहा, सियासत का बन गया। परिणाम कि हिन्दू और मुसलमान दो अलग-अलग सम्प्रदाय के रंग में ही नहीं बल्कि दोनों विरोधी जमातों के रूप में आमने-सामने खड़े हो आये और बटवारा ही उपाय रह गया। मुस्लिम लीग में उतनी ही ताकत आ गई जितनी कांग्रेस ने बलिदान द्वारा अपने लिए प्राप्त की थी। शक्ति ने प्रतिशक्ति को जन्म दिया। प्रतिक्रिया के होने से वह ताकत बराबर की बन आई। ऐसा अपने आप हो जाता है। अंग्रेज तसफीए को आए तो नतीजा हुआ कि 'पैरिटी' की नीति पर कांग्रेस और लीग के साथ उन्होंने व्यवहार किया और कांग्रेस को इस सम-संतुलन को मानना पड़ गया। गांधी जी पारस्परिक और धार्मिक भूमिका हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के नीचे आवश्यक मानते थे। बाहरी और तीसरा पक्ष इस भूमिका में सर्वथा असंगत पड़ जाता है। लेकिन हमारे कांग्रेसी नेता धर्म-भाव से परी थे। वे केवल राजनीतिक और लौकिक रूप में ही विचार करते थे। इस ऊपरी

'सेक्यूलरिज्म' का परिणाम आया कि 'कम्यूनलिज्म' पनपा और मजबूत हुआ और मतांधता ने जोर पकड़ा।'

1930 के आन्दोलन के संस्मरण

—'उसके बाद गांधी जी का दूसरा आन्दोलन सन् 1930 में चला उसके कुछ संस्मरण – आप किस तरह से जेल गये और किस तरह से आपने नमक का कानून तोड़ा— आप हमें कुछ बतला सकेंगे ?'

—'सन् 1930 में गांधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ और दिल्ली में धूम-धाम मची इस आन्दोलन की। उस समय की स्थिति याद करता हूं तो विलक्षण मालूम होता है। प्रेमचन्द जी ने मुझको तार दिया कि 'हंस' के विशेषांक के लिए कहानी भेजो। मैंने प्रयत्न किया, लेकिन कहानी नही बनी। तीन-चार रोज सोचता रहा, लेकिन नही लिख सका, नही लिख सका। कारण जब मैंने खोजा तो मालूम हुआ कि बाहर जो उथल-पुथल मच रही है, इससे सर्वथा अगर मैं नि:संग बना हुआ रहूं, तो मेरा मन लिख नही पायेगा। तत्काल मैंने यहां के कांग्रेस दफ्तर को लिख दिया कि अमुक तारीख से आप अपने स्वयसेवकों की 'लिस्ट' में मेरा नाम लिख लीजिए। बस उस पत्र का लिखना था कि फिर कहानी आसानी से लिख गयी और मैंने प्रेमचन्द जी को भेज दी। तो इस अनसोचे ढंग से मैं आन्दोलन में आया।'

दिल्ली के सत्याग्रह का नेतृत्व

'संयोग की बात है कि जमुना के किनारे सत्याग्रहियो का एक 'कैम्प' लगा तो मुझे वहा सत्याग्रह में शामिल होने वाले स्वयसेवकों के जत्थे का 'हैड' चुन दिया गया। तय हुआ कि पहला जत्था जायेगा सत्याग्रह के लिए, उसका नेतृत्व मैं करूंगा। मैंने कहा कि यह मेरा अधिकार नही है। मैं स्वयंसेवक हूं लेकिन पहले जत्थे का प्रमुख कोई जाना-माना नागरिक, मान्य नेता होना चाहिए। सब उसे जानते होंगे तो उसका प्रभाव होगा, मैं उस पद का अधिकारी नही हू। मैं नही कह सकता कि क्या कारण हुआ, लेकिन व्यवस्थापक वर्ग यानी कांग्रेस के अधिकारी वर्ग को यह सुझाव पसन्द नहीं आया। माना गया कि मैं विद्रोह उकसा रहा हूं। मैंने कहा कि जत्थे का मुझे एक साधारण 'वालंटियर' रहने दीजिए, नेता पद का गौरव कांग्रेस के किसी विशिष्ट पदाधिकारी का होना चाहिए। 'कैम्प' के सारे 'वालंटियर्स' ने भी इसमें मेरा साथ दिया। सबका आग्रह था कि 'डिस्ट्रिक्ट कांग्रेस कमेटी' का अध्यक्ष प्रमुख बनना चाहिए या संगठन के प्रमुखो मे से किसी को आगे आना चाहिए। देवदास गांधी

बीच में पड़े। मैंने उनको अपना दृष्टिकोण समझाया। परिणाम यह कि मैंने कहा, 'मैं किसी प्रकार की असुविधा आपके लिए नहीं पैदा करना चाहता हूं। लेकिन मैं अपने को गौरव का अधिकारी नहीं मानता हूं।' इसलिए स्थिति को सम्भाले रखने के लिए मैं उससे अलग हो गया।'

दिल्ली में नौजवान भारत सभा (1930)

'उसी समय नौजवान भारत सभा और उसकी सेना बनी थी, जिसमें वे क्रांतिकारी तत्व थे, जो गांधी जी के मार्ग को पसन्द नहीं करते थे। उनका केन्द्र यों लाहौर था, पर इस प्रवृत्ति का आरम्भ दिल्ली में ही हुआ। संयोग कि यहां चमनलाल जी भी थे जो 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के संवाददाता थे। नौजवान भारत सभा की स्थापना के लिए एक मीटिंग हुई जिसमें पाया कि मैं भी उपस्थित हूं। मुझे उसमें सम्मिलित मान लिया गया और कुछ पद भी शायद दे दिया गया। चमनलाल जी, जो पीछे बौद्ध भिक्षु हुए, सेक्रेटरी बने। मैं उन दिनों पहाड़ी धीरज पर रहता था, तो वहां पर एक नौजवान भारत सेना खड़ी हो गयी। 6 अप्रैल 1930 की बात है कि बहुत बड़ा जुलूस निकला और उसमें नौजवान भारत सेना वाले भी शामिल हुए। इन जवानों में बड़ी उतावली थी। उन्होंने कहा कि हम तो जुलूस के आगे रहेंगे। परिणाम यह हुआ कि जुलूस में सबसे आगे यदि महिलाएं थीं तो उसके पीछे नौजवान भारत सेना के लोग रखे गये। मैं जुलूस की पंक्ति में नहीं चल रहा था, क्योंकि मैं स्वयंसेवक के बजाय 'चीफ' समझा जाता था। इसलिए मैं पंक्ति से स्वतन्त्र था। कश्मीरी गेट पर मालूम हुआ कि गोली चल गयी और लाठी चार्ज हो रहा है। मैं कश्मीरी गेट पहुंचा, वहां मालूम हुआ कि नौजवान भारत सेना के लोग और आगे निकल गये हैं और मैं तेजी से उधर बढ़ा। कश्मीरी गेट के डाकखाने तक आया तो पुल के नीचे से दिखाई दिया कि घुड़सवार दौड़े चले आ रहे हैं लाठी घुमाते हुए। किसी के पास बल्लम भी थे और वह दाएं-बाएं भागते लोगों को मारते हुए चले आ रहे हैं। जगह-जगह लोग गिरे हुए हैं, घायल पड़े हैं, कुछ जख्मी मर भी गये हैं। देखकर मैं एकाएक वहीं का वहीं खड़ा रह गया। वहां जहां दोनों ओर की सड़कों के बीच घास का 'प्लाट' था।'

जैनेन्द्र के मन में भय

'मैंने अनुभव किया कि मन में एक दहशत-सी पैदा हुई है। यद्यपि मैं गया नहीं, चला नहीं, हटा नहीं, बल्कि अपनी जगह पर खड़ा रहा। लेकिन मन एक भय-सा हुआ। उस संघर्ष में मेरे ख्याल में नौजवान भारत सेना के

चार या अधिक भाई काम आ गए थे। पचासों, सैंकड़ों की संख्या में घायल हुए थे। उन सबकी सुश्रूषा का पहाड़ी धीरज पर हमने इन्तजाम किया। लेकिन उस दिन मैंने अनुभव किया कि मैं नेतृत्व के योग्य नही हूं। कारण, भय मेरे भीतर है और भय रखकर मैं कोई ऐसी जिम्मेदारी का पद लूं तो बहुत भयकर बात है। भारत नौजवान सेना के लोग जख्मी हुए, मरे, शहीद हुए, भुगतना तो उन्हें पडा। मैं जो प्रमुख और प्रधान था, उस पर कोई चोट नही आयी। दो-एक लाठियां मुझ पर पडी तो मैं मजे में सह गया, शायद मुस्कराया भी होऊ, पर अन्दर डर था। यह अनुताप मेरे मन में होता रहा, और मैं थोडी देर बिलकुल शान्त बैठ गया। उसके बाद कृष्णन नायर आये और कहा कि हमारे ग्राम का कार्य बहुत शिथिल है, व्यवस्थित नही है, लोग जाते है, कुछ कर भी रहे हैं लेकिन वहां ग्राम में चेतना पैदा नही हो पाती है। तो इसमे तुम कुछ योग दो। मैंने कहा कि ठीक, उस काम में अवश्य अपना समय और योग थोड़ा-बहुत दूंगा, लेकिन नेतृत्व मेरे हाथ मे नही होगा। इस शर्त के साथ फिर मैं कुछ गावों में गया। काफी उत्साह वहा पैदा हुआ। लेकिन थोडे दिन बाद ही 'वारन्ट' निकला, गिरफ्तार हुआ और जेल भेज दिया गया। इस तरह से 1930 मे मैं जेल गया। दिल्ली जेल में मुझे 'बी क्लास' दी गयी तो मैंने कह दिया कि मैं 'सी क्लास' मे अपने सब साथियों के साथ रहूंगा। मैं क्लास-क्लास नही मानता हूं। गोरा बैरक मे 'स्पेशल क्लास' के कैदी रहते थे, 'बी' और 'ए' क्लास के। तो गोरा बैरक मे एकाएक मैं नही गया। लेकिन फिर मालूम हुआ कि जाना पड़ेगा, नही तो मैं शारीरिक 'वाएलैंस' का अवसर पैदा करूंगा। अन्त मे मैं बलात् गोरा बैरक ले जाया गया और उससे अगले ही रोज हम सब क्लास वालो को गुजरात (पजाब) स्पेशल जेल में भेज दिया गया। वहां दिल्ली के, पजाब और सीमा प्रात के विशेष वन्दी एकत्र थे। खान अब्दुल गफ्फार खा थे, डा० किचलू थे, डा० असारी थे, जफर अली खां थे, सत्यपाल, आसफ अली सभी लोग वहा थे। तो सन् 1930 में जेल जाने की यह गाथा है।'

सन् 1920-1930 के आन्दोलनों में अन्तर और उनके प्रभाव

—सन 1930 में जैसा आपने कहा कि दिल्ली में नौजवान सभा बनी थी और अक्सर नौजवान सभा के बारे में कहा जाता है, खासकर यशपालजी से लोग कहते हैं कि भगतसिंह और उनके जो साथी थे वे अधिकांश मार्क्सवादी थे। या दूसरे मानो में कहिए साम्यवादी थे। आप उनकी पहली सभा में मौजूद थे। क्या आप इस बात की पुष्टि करेंगे कि उनका दृष्टिकोण वैसा ही था?'

—'मैं दिल्ली की नौजवान भारत सभा में सम्मिलित हुआ था। और यह

आन्दोलन आरम्भ हुआ था लाहौर से। मैं मानता हूं कि इन लोगों का झुकाव जरूर मार्क्सवादी विचारधारा की तरफ था, लेकिन अभी बहुत स्पष्टता नहीं हो पायी थी। क्रांतिकारियों की परम्परा में जो एक धार्मिक भाव था—पहले के सभी क्रांतिकारियों में, अरविन्द, हरदयाल आदि में—उस परम्परा से थोड़ी विच्छिन्नता जरूर आ रही थी। धर्मनिरपेक्ष और भौतिक विचारधारा उनको अधिक प्रभावित करती थी।

'एक बार नौजवान भारत सभा के प्रतिनिधि की हैसियत से मुझे लाहौर जाना पड़ा। जो वहां बैठक में मिले, धन्वन्तरि, एहसान इलाही आदि, उस वर्ग से मेरा कोई परिचय था ही नहीं। जब वहां चर्चा शुरू हुई तो मेरी बातें सुनकर बड़े विस्मित हुए। क्योंकि मेरे मन में उस समय भी अहिंसा का विश्वास था, गांधी जी की विचारधारा मुझे कहीं अधिक समर्थ और उपयुक्त मालूम होती थी। वे मेरी तरफ अचरज से देखा किये। चर्चा में हमें मालूम हुआ कि हमारे बीच तो बहुत फासला है। शायद उनको लगा कि यह आदमी नौजवान भारत सभा में कैसे आ गया। आपने मार्क्सवादी विचारधारा के बारे में पूछा है। तो उसके जितने फलितार्थ हैं उन सबका शायद भान उनको था या नहीं था, यह विश्वास से मैं नहीं कह सकता। लेकिन झुकाव उनका उस तरफ था और अहिंसा की अक्षमता के बारे में उनके मन में पूरा विश्वास था। गांधी मार्ग के प्रति उनको बिलकुल श्रद्धा नहीं थी, बल्कि उपहास था, और हिंसक साधनों से ही देश का काम चल सकेगा, आजादी आयेगी, ऐसा उनको लगता था। इस बारे में मुझमें भ्रम नहीं है। मार्क्सवादी विचारधारा के बारे में उनका झुकाव था किन्तु उसकी 'इम्प्लिकेशन्स' के सम्बन्ध में उतना अध्ययन और उतनी स्पष्टता शायद नहीं थी।'

क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता

—'आपने अभी कहा कि नौजवान सभा के नेताओं का गांधी जी के कार्यक्रम और कार्यपद्धति में विश्वास नहीं था और शायद वे समझते थे कि उनका रास्ता आजादी के लिए काफी नहीं है। क्या कभी आपको ऐसा महसूस हुआ कि गांधी जी के प्रति उनको कुछ द्वेष था?'

'—हां, असहमति थी और इतनी घोर असहमति थी कि कुछ अवज्ञा का भाव भी उसमें मिल जाता था। एक कान्फ्रेंस उनकी लाहौर में कांग्रेस के 'सेशन' के साथ ही हुई थी। गांधी विरोध था वहां, बहुत तीव्र, कांग्रेस विरोध भी कहा जा सकता है। लेकिन जवाहरलाल जी इत्यादि के प्रति वह विरोध उतना नहीं था, मुख्यतः वह गांधी जी के प्रति था। उसमें मैं उपस्थित

अब मुझे सही याद नहीं है कि प्रस्ताव की ठीक भाषा क्या थी, लेकिन मैं उससे सहमत न था। जाने मुझमें क्या मूर्खता समायी कि मैंने उस प्रस्ताव की भाषा देखी और मैं बोलने के लिए खड़ा हो गया। मेरे वक्तव्य में गांधी जी का विरोध तो था ही नहीं, बल्कि एक प्रकार का समर्थन था। मैं बोला और बोलकर बैठा कि पास के एक सज्जन बहुत घबराए दीखे। वे सी० टी० वलेचा नाम के कोई सज्जन थे, पीछे उनका क्या हुआ मुझे नहीं पता। वे एक वकील थे सिंध के। सी० टी० वलेचा ने मुझे कहा कि यह तुमने क्या किया? तुमको खयाल नहीं आया कि तुम यहां 'लिंच' कर दिये जा सकते हो? तुम मार डाले जाओगे। तुम किस तरह की बातें कर रहे हो? मैंने कहा कि मुझे यह कुछ नहीं मालूम। बोले, गनीमत है कि तुम्हारा नाम अभी इतना परिचित नहीं है। यानी माहौल सच इतना गर्म था कि मुझे वहीं खत्म भी कर दिया जा सकता था। मेरी बात एक आदमी की है जो गिनती के लायक नहीं है। इसलिए सुन ली गयी है, बरदाश्त भी शायद कर ली गई है। लेकिन इस तरह की मूर्खता तुम्हें कभी करनी नहीं चाहिए, इत्यादि-इत्यादि। तो घोर हिंसक पराक्रम की आवश्यकता है, ऐसा वे लोग अनुभव करते थे। यह मेरी धारणा है।'

—'आप इस बात का विवेचन करेंगे कि हिन्दुस्तान का क्रान्तिकारी आन्दोलन इस कारण सफल नहीं हो सका क्योंकि हिन्दुस्तान के इतिहास और दर्शन में अहिंसा की परम्परा है?'

—'असल में क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ एक पोशीदगी का भाव रहता था। इस पोशीदगी के आलम में, पराक्रम के स्रोत में; भय भी रहता है। इसलिए वह जन-आन्दोलन नहीं बन सकता था और न ही बन सका। मैं यह मानता हूं कि आन्दोलन यदि बड़े पैमाने पर सफल हो तो तभी हो सकता है जब उसको जन-आन्दोलन का रूप मिले। किन्तु क्रान्तिकारी प्रवृत्तियां जितनी हुयीं, जन-आन्दोलन का रूप वे नहीं पकड़ पायीं। थोड़ा बहुत कुछ विद्रोह हुआ था या उससे पहले 1857 में 'गदर' हुआ था, उस समय तो उसका जन-आन्दोलन का रूप था और मैं यह मानता हूं कि चाहे हिंसा साधन हो किन्तु वह एक बड़े पैमाने पर 'मासेज' के द्वारा अपना लिया जाये तो शायद उसका कुछ परिणाम होना भी है, किन्तु जिस ढंग से बंगाल का क्रान्तिकारी आन्दोलन शुरू हुआ, उसमें पोशीदगी का माद्दा था, उसके कारण वह जन-आन्दोलन नहीं बन सकता था। मैं मानता हूं कि यदि वह सफलता तक नहीं पहुंचा तो उसका कारण यह भी है कि उसमें खुला पराक्रम नहीं था, बचाव-छिपाव था। यह भी सही है कि उससे व्यापक लोक शिक्षण नहीं मिलता और उससे राज्यतन्त्र में व्यापक तौर पर किये जाने वाले हिंसक दमन को समर्थन मिल जाता है।'

—'इसके अलावा कुछ लोग लुक-छिपकर क्रान्तिकारियों का साथ देते थे, मगर खुले तौर पर उनका साथ नहीं देते थे। तो क्या आपने ऐसा कभी अनुभव किया कि वहाँ ज्यादा भय था, न कि हिंसा के प्रति एक नफरत ?'

—'गाधी जी की नीति विरोधी पक्ष को सर्वथा पराजित, हतप्रभ करने की नही रहती थी। वे जिस मुद्दे को लेकर सत्याग्रह चलाते थे, उसकी वही सीमा रहती थी, उससे आगे जाना वे आवश्यक नहीं मानते थे। जब-जब सत्याग्रह की समाप्ति हो और सत्याग्रह को 'वाइण्ड-अप' किया जाये, उसके लिए शर्त के तौर पर जो मुख्य मुद्दा लेकर चला गया था, उसको फैलाने में वे समझते थे कि अनीति है। शक्ति या जय के वेग मे वे अपनी माँगें बढ़ाते नही थे। किसी एक मुहिम की जीत में राष्ट्रीय स्वराज को ही संधि का मुद्दा बना लिया जाए, शायद दूसरे नेता ऐसा करने की सोचते, लेकिन गांधी जी की वह नीति नही थी। गांधी जी जिस मुद्दे को, जिस लक्ष्य को लेकर सत्याग्रह का आन्दोलन आरम्भ करते थे, समझौते के समय उस मुद्दे से आगे जाने की बात नही सोचते थे, ठीक उतने ही मुद्दे की बात पर दृढ़ रहते थे। उनको प्रतिपक्षी अगर मान लेता है तो वह मान लेते थे कि मेरे लिए हृदय परिवर्तन का उतना ही संकेत पर्याप्त है। मैं समझता हूं कि यह 'पोलिटीकल स्ट्रेटिजी' कि प्रतिपक्षी यदि कमजोर पड़ता है तो उसे ज्यादा झुका डालो, उनकी नही थी। उनका राष्ट्रीय अथवा मानव व्यापार में चलने का तरीका ही वह था। मैं तो पर्याप्त कारण देखता हूँ कि ऐसा ही होना चाहिए। क्योंकि इससे प्रतिपक्षी के मन मे एक निशकता बनी रहती है, वह नही मानता कि यह किसी अवसर का लाभ मुझसे लेगा। हार के और बदले के भाव का मूल ही इस तरह कटता है। दुश्मनी मिटती है, दुश्मन मित्र बनता है। युद्ध, जिसमें पक्ष और प्रतिपक्ष हुआ करते है, उनमे एक विशेष प्रकार की स्वच्छता बनी रहती है, परस्पर का विश्वास उगता है।'

गांधी इर्विन समझौता (1931)

'मैं तो मानता हूँ कि गाधी जी ने जिस मुद्दे को जहाँ से उठाया था, वहीं तक सीमित रखा। यानी नमक के सम्बन्ध में कानून के 'रिपील' होने का, रद्द होने का, जो उन्होने मुद्दा रखा, और 'गांधी-इर्विन पैक्ट' को वहीं तक सीमित रखा तो उस सम्बन्ध में मेरे मन में कोई असन्तोष नही है। यद्यपि भगतसिंह की फाँसी को रद्द करने की शर्त न रखने के कारण देश मे गांधी-इर्विन पैक्ट के प्रति गहरी शिकायत के भाव बराबर बने रहे हैं।'

—'आपने कहा था कि जब आप किसी एक जुलूस को देख रहे थे कि वहाँ बहुत से आदमी मारे गये और उस परिस्थिति मे आपने हिस्सा नहीं लिया, फिर

भी आपके मन में बहुत भय रहता था, इसलिए आपने बहुत बार नेतृत्व लेने से इन्कार कर दिया—क्या आप यह बता सकेंगे कि भय का क्या कारण था, जो आपके मन में उत्पन्न हुआ ?'

भय, अहिंसा और आस्तिकता

—'भय तो एक प्रकृत भाव है। किन्तु मैंने जिक्र किया था कि अन्दर मैंने भय अनुभव किया, लेकिन उस भय में से कोई पलायन इत्यादि नहीं निकला था और मैं मानता हूं कि जब तक परिपूर्ण शत-प्रतिशत आस्तिकता व्यक्ति में न आ जाये, तब तक भय अनिवार्य रहेगा। सारा भय ईश्वर का रखिए तो संसार और शरीर का भय समाप्त हो जायेगा। हिंसक पराक्रम भय में से ही निकला करता है। इसलिए भय पाप का, और परमात्मा के प्रति, सबका सब अर्पित न हो जाये, तब तक भय भीतर विद्यमान रहने ही वाला है। अत: मैं मानता हूं कि अहिंसक युद्ध की प्रक्रिया में अनिवार्य है कि व्यक्ति परमात्मा में पूरा भरोसा रखे और मरते-मरते भी माने कि जो उसे मार रहा है ईश्वरीय लीला का निमित्त मात्र है। उसको दोषी न माने, दुष्ट न माने। यह दर्शन प्राप्त हो सकता है सौ फीसदी आस्तिकता में से ही। इसलिए यदि मुझमें भय था तो यह नहीं कि मैंने माना, मैं सर्वथा अपात्र हूं, किन्तु माना यह कि आस्तिकता शत-प्रतिशत मुझ में दृढ़ नहीं हो सकी है और नेतृत्व अहिंसक मुहिम का मुझसे नहीं हो सकता है।'

—'आपने अभी कहा कि भय तभी दूर हो सकता है जब ईश्वर में विश्वास हो और सत्याग्रही यह माने कि जो उसको मार रहा है, वह दुष्ट नहीं है। आपने जिन-जिन संघर्षों में हिस्सा लिया, उसमें जितने लोगों ने काम किया या जो उसमें जेल जाते थे, उसमें आप समझते हैं कि सारे के सारे या लगभग पचास फीसदी से ज्यादा तो इस तरह के सत्याग्रही थे जो मारने वालों से प्रेम रखते थे, जैसा कि गांधीजी अक्सर कहा करते थे ?'

—'नहीं, ऐसा तो नहीं था। इतना ही नहीं, बल्कि मानता हूं कि अहिंसा का पालन ऊपर से हुआ, अन्दर से अधिकांश के मन में हिंसा भी रही हो तो मुझे विस्मय नहीं होगा और यह भी मानता हूं कि स्वराज मिलने के बाद जो संकट पैदा हुआ उसका एक कारण यह भी है कि अहिंसा हममें बहुत गहराई से नहीं उतरी थी। इस कारण उसको हमने एक सामयिक नीति के रूप में तो अपनाया, लेकिन जो उसका गहरा अभिप्राय था, उसको नहीं समझा था, आचरण में नहीं उतारा था। परिणाम आज देख ही रहे हैं। अहिंसा के द्वारा लिए हुए स्वराज में से हिंसा फूट रही है!'

जैनेन्द्र का सन् 1932 के आन्दोलन के समय तीसरा 'डिक्टेटर' बनाना और जेल जाना

—'सन् 1930 के सत्याग्रह के बाद जब गांधी-इर्विन समझौता हो गया तो गांधी जी को सन् 1932 में फिर सत्याग्रह करने की जरूरत महसूस हुई। क्या आप ऐसा नहीं समझते हैं कि जो समझौता था, वह इतना देश के हितों के लिए खराब था कि गांधी जी को दो साल के बाद फिर संघर्ष जारी करना पड़ा ?'

'—हां, गाधी-इर्विन समझौते में जो यह आशा की गई, बहुतों ने की होगी, मैं नही कह सकता कि गांधी जी ने की या नही, कि विलायत की सरकार का और साम्राज्यवाद का हृदय परिवर्तन हुआ है। सन् 1932 मे ऐसा मालूम हुआ कि वह बात झूठी पड़ गई। समझौते के बाद गाधी जी विलायत गये, 'राउंड टेबल कॉन्फ्रेंस' में शामिल हुए, लेकिन जब तक वह भारत की धरती के किनारे पहुंचे तब तक तो संघर्ष फिर शुरू हो गया था। जवाहरलाल जी गिरफ्तार किए जा चुके थे और किसान आन्दोलन के सम्बन्ध में सरकार का रुख खुलकर दमन का हो गया था। तो उस समझौते मे से यह परिणाम तो अवश्य नही निकाला जा सकता है कि साम्राज्यवाद मे कोई हृदय परिवर्तन हुआ था। इस दृष्टि से तो आप कह सकते है कि समझौता पर्याप्त न था। लेकिन सत्याग्रह जो आरम्भ हुआ वह इतने बड़े प्रश्न को लेकर था भी नहीं। वह तो कानून मे अगर हम लचक पैदा कर लेते हैं और औसत आदमी की आवश्यकता को इतना अनुभव करते है कि उसकी पूर्ति के लिए गलत कानून को रद्द कर देते है, यानी नमक का कानून टूट जाता है, तो इतने मे उसकी पूर्ति हो जाती है; अर्थात् सत्याग्रह की सार्थकता बन जाती है। इसलिए गांधी-इर्विन समझौते को अपने आप में गलत कहने की हिम्मत मुझ मे नही है। अधूरा था, यानी अपर्याप्त था स्वराज की दृष्टि से, यह अवश्य कहा जा सकता है।'

1932 की जेल यात्रा के बाद राजनीति से सम्बन्ध

—'सन 1932 में जो किसानों की दशा उत्तर प्रदेश में थी, उसके बारे में कुछ बताइए।'

—'मैं उस समय उत्तर प्रदेश में नहीं था, दिल्ली में ही था। उसका मैं कोई प्रत्यक्ष विवरण तो नही दे सकता हूं। किन्तु गाधी जी के लंदन से आते ही आन्दोलन ने अखिल भारतीय रूप पकड़ लिया। सन् 1932 के आन्दोलन में भी मैं पड़ा और मुझको जेल भेज दिया गया। सन् 1932 मे शायद स्पेशल जेल नही

थी, मुझे मुलतान सेंट्रल जेल भेजा गया था। इसलिए धरती के और किसानों के आन्दोलन के प्रत्यक्ष विवरण में मैं अधिकार भाव से विशेष नहीं जा सकता हूँ।'

—'सन 1937 में जब सूबों में मंत्रिमंडल बने, तो आप उनके विरोध मे थे या पक्ष में ?'

—'मैं राजनीतिक प्रश्नों के बारे में सीधी और स्वतंत्र राय बनाने की आवश्यकता नहीं देखता था। फिर विचार आता था तो मालूम होता था कि गांधीजी का निर्णय ही सही है। उसकी बारीकियों में मैं नहीं जाता था। उस पर जितने तर्क होते थे उन सबके पीछे भी नहीं पड़ता था। चीज सही मालूम पड़ती थी तो इसलिए कि पीछे की मूल दृष्टि सही थी। दिल्ली में एक सम्मेलन हुआ था। उसमें प्रश्न सामने आया था कि मंत्रालय लेना या नहीं लेना और लेना तो किस विधि और नीति से लेना ? सारा यह प्रश्न उलझन का था, और सच मे तो मनोवृत्तियों का विवाद था। जो सरकार और कांग्रेस के बीच 'जैन्टलमैंस एग्रीमेंट' की बात तय हुई वह गाधी जी के रूख मे से आई थी। उन्होंने कहा कि जिम्मेदारी से हम हट नहीं सकते। लेकिन अगर जिम्मेदारी निभाने का हमको पूरा अवसर न हो तो लेने से क्या फायदा है ? कौंसिलों में जाकर जनहित के दायित्व का काम नहीं करना है, बल्कि भीतर से सरकार के दुर्ग को ही तोड़ना है, यह नीति उनको रुचिकर नहीं थी। किन्तु रचनात्मक कुछ किया जा सके, इस प्रकार का अवसर मिलने वाला हो तो कौंसिलों में जाना, वह सुविधा नहीं मिलने वाली हो तो व्यर्थ पद भार लेने से कोई लाभ नहीं है। इस तरह 'जैन्टलमैंस एग्रीमेंट' वाली बात आई थी कि सरकार से साफ हो जाए कि मिनिस्टरों के काम में अड़चन और अड़गा नहीं डाला जायेगा। उनको पूरी जिम्मेदारी के साथ, विश्वास के साथ काम करने दिया जायेगा। इस आधार पर मिनिस्ट्रियाँ हमको स्वीकार होनी चाहिए, उससे हटने का अवकाश नहीं है। कुछ लोग जरूर ऐसे थे जो कहते थे कि यह सब जाल है, हमको उसमें नहीं फँसना चाहिए। ऐसे लोग भी थे कांग्रेस में, काफी संख्या उन लोगों की थी, जो मानते थे कि जाना तो हमको चाहिए लेकिन क्रान्तिकारी मनोवृत्ति लेकर जाना चाहिए। यानी सरकार को हमें तोडना चाहिए, सरकार को 'कोरनर' करना चाहिए, परेशान करना चाहिए। श्री एम० एन० राय उस 'कन्वेंशन' में शामिल थे। वे इतने असन्तुष्ट हुए कि अन्त मे उसके बाद तो शायद उन्होंने कांग्रेस से अपना सम्बन्ध ही तोड दिया। एम० एन० राय से उसके बाद सयोगवश मेरा भी मिलना हुआ लेकिन वह दूसरी बात है।'

—'जब कांग्रेसी मन्त्रियों ने सन् 1939 में युद्ध होने के बाद इस्तीफे दे दिये

इस बिना पर कि उनको, सारे भारत को युद्ध का हिस्सा बनाया गया और उनसे पूछा नहीं गया तो गांधी जी ने उस वक्त यह कहा कि लड़ाई से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है और अहिंसा के बल पर उन्होंने जोर दिया कि सब लड़ाइयां बुरी हैं। इस पृष्ठ-भूमि में उनका रुख जो पहली जंग की तरफ था उसमें आपको विरोध नहीं मालूम देता है?'

—'हाँ, देखने मे तो कुछ थोड़ा विरोध दिखता है दोनों स्थितियों मे। लेकिन शायद उसको विरोधाभास माना जा सकता है। गांधी जी की अहिंसा और स्वयं गाधी जी दोनों गतिशील, विकासशील रहे। पहले युद्ध में उन्होंने रगरूटों की भरती में पूरा भाग लिया। लेकिन अपनी अहिंसा के सम्बन्ध में वे उससे कम दृढ़ थे जैसे बाद मे रहे, ऐसा उनका मानना नही है। उन्होंने कहा कि जो युद्ध मे विश्वास रखते हैं वे ऐसे समय युद्ध से बचें तो यह प्रमाद है, कायरता है। उसके लिए कोई कारण बचने का नहीं है। इस नाते उन्होने उन रंगरूटो को जोकि युद्ध के सम्बन्ध में निषेध-वृत्ति रखते ही नही थे, उनको कहा कि नहीं, तुम्हारा धर्म है कि तुम सहायता मे खड़े हो और लड़ो। दूसरे युद्ध के बारे में उनकी स्थिति थी कि भारत को यदि युद्ध में योग देना हो तो वह योग नैतिक रूप का होगा। नैतिक समर्थन, नैतिक बल का योग दिया जा सकेगा। जनबल, धनबल का प्रश्न नहीं उठता। नैतिक बल का योग दे सकते हैं, किन्तु सिद्ध होना चाहिए कि बर्त्तानिया का पक्ष नैतिक पक्ष है भी। अगर ऐसा हो तो हम नैतिक समर्थन अवश्य देंगे। किन्तु सबूत मिलना चाहिए, और सबूत इसमें है कि भारतवर्ष के साथ वह किस तरह से व्यवहार करता है। अगर भारत के प्रति उसकी नीयत साफ है तो वह नीयत प्रगट होनी चाहिए। जब तक अपने नैतिक आधार को वे पुष्ट नहीं बनाते है तब तक हम कैसे पक्ष समर्थन उनका कर सकते हैं? यह गांधी जी का कहना था, कांग्रेस का यह मतव्य नही था।'

कांग्रेस में उस वक्त दो राय थीं: जवाहरलाल नेहरू का कहना था कि जर्मनी इंग्लैंड के मुकाबले में खराब है, इसलिए इस युद्ध में हमें किसी प्रकार अंग्रेजों का समर्थन करना चाहिए। गांधीजी का रुख था कि युद्ध में हमें अंग्रेजों को कुछ भी सहायता नहीं करनी चाहिए। फिर उन्होंने यह भी कहा कि जब 'हाउस आफ कामन्स' पर बम पड़े और वह नष्ट हो जाये तो दुनिया की कला का नाश होगा' इन दोनों में क्या विरोधाभास नही है?'

—'आपने विरोधाभास कहा तो विरोध का आभास तो अवश्य दिखाई देता है। उन्होंने कहा कि 'हाउस आफ कामन्स' है, बकिंघम पैलेस है, इसकी मैं कल्पना करूं कि बम से वे ध्वस्त हो जायें तो मेरे मन को इतना ही कष्ट होगा जितना कि भारतवर्ष में नाश हो, प्रलय हो, उससे होगा। लेकिन फासिस्ट पक्ष के विरोध

में जिस पक्ष का मैं समर्थन करूँ, मालूम तो होना चाहिए कि वह नैतिक भूमिका पर निश्चित रूप से खड़ा हुआ है। उसकी भूमिका निश्चित रूप से नैतिक है जबकि दूसरी ओर अनीति है, ऐसा हो जाए तब तो मैं समर्थन करता हूँ। किन्तु समर्थन की भी एक सीमा है, भारतवर्ष अपना नैतिक समर्थन दे सकेगा। दूसरे लोग मानते थे, जैसा आपने कहा कि फासिस्ट के मुकाबले में हर तरह दूसरा पक्ष समर्थनीय है ही और हमारी कैसी भी अवस्था क्यों न हो हमको उसका समर्थन करना चाहिए, यानी कि मित्र पक्ष का समर्थन करना चाहिए। ऐसी उनकी मान्यता थी। इस स्थिति में गांधीजी क्या करें ? गांधीजी अहिंसा के व्रती होकर चुप बैठें रहे, यह भी सम्भव नहीं था। इसलिए व्यक्तिगत सत्याग्रह का रूप निकला,जहाँ सत्य-श्रद्धा का 'विंडिकेशन' भी पूरा होता था और अहिंसा की अपनी नीति, कि प्रतिपक्षी को असमंजस्य में नहीं डालना है, वह भी निभती थी। प्रतिपक्षी जान जोखिम में डालकर लड़ रहा है, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए, तो इस परिस्थिति का लाभ भी उठाया नहीं जायेगा, इसकी भी हमें चिंता रखनी है। इसलिए बड़े पैमाने पर सत्याग्रह न करके उन्होंने व्यक्तिगत सत्याग्रह का रूप निकाला।'

—'1940 के बाद 1942 में जब उन्होंने 'भारत छोड़ो', और 'करो या मरो' का नारा दिया तो उस वक्त भी जंग जारी थी। तो आप ऐसा नहीं सोचते ज कि 'भारत छोड़ो' आन्दोलन से अंग्रेजों के जो युद्ध के लिए काम थे उनमें काफी रुकावट पैदा हो सकती थी और एक बड़ा धक्का प्रजातंत्र को लग सकता था ?'

—'गांधी जी मानते थे, जब उन्होंने 'करो या मरो' की आवाज दी और 'भारत छोड़ो' का आन्दोलन छेड़ा, कि भारत यदि अंग्रेजों का मित्र रहना चाहता है और उनकी सहायता करना चाहता है तो मित्रता और सहायता सच्ची तभी हो सकती है जब वह अधीन देश न रहे, न ग्रेट ब्रिटेन अधिशासक रहे। तब मित्रता अनायास होगी। यदि वह बलात् होती है तो ब्रिटेन के पक्ष को, नैतिक दृष्टि से बलिष्ठ नहीं, दुर्बल करेगी। युद्ध की अवस्था ऐसी थी कि आवश्यक था कि सब मित्र देश उसकी मदद करें। यानी सब देश मित्रवत् ही हैं जो इतिहास के संयोग से बर्तानिया के सम्पर्क में आए है। यानी यह सहज-भाईचारे का तकाजा है। लेकिन जब तक गुलाम बना रहेगा भारत तब तक मित्रता का निर्वाह हो नहीं सकता। तो गांधी जी ने सोचा कि अब स्थिति ऐसी आ गई है कि हमको इंग्लैंड की मदद करनी चाहिए, लेकिन गुलाम भारत को तो इंग्लैंड की दुश्मनी ही सूझ सकती है, वह मदद कर ही नहीं सकता है। मन में उसके लिए भाव वह पैदा होगा भी नहीं। इसलिए उन्होंने अंग्रेजों से कहा कि तुम भारत पर अगर मालिक की तरह

बैठे रहोगे तो तुम कमजोर बनोगे और हिन्दुस्तान से जो तुम उम्मीद करते हो कि वह तुम्हारी मदद करे तो मदद भी हृदय से वह तभी कर सकेगा जब तुम उसके मालिक नहीं रहोगे। तब वह स्वतः सच्चे मित्र के रूप में मदद करने आगे आयेगा। इसलिए मैं मानता हूं कि उनके 'करो या मरो' के सत्याग्रह छेड़ने के भीतर भी मूल आशय उनका यही रहा कि युद्ध में अंग्रेजों की मदद की जा सके। मदद की आवश्यकता है, मदद करनी चाहिए। लेकिन भारतवर्ष की जनता के मन में द्वेष, क्रोध, शत्रुता का भाव रहे, सिर्फ इसीलिए कि वे मालिक बने बैठे हैं, और उनकी मदद करने में असमर्थ बना रह जाय, तो यह उनको सह्य नहीं था। इसीलिए वे चाहते थे कि जल्दी-से-जल्दी शासक के रूप में अंग्रेज यहां से हट जाए और इससे ही भारत की जनता में मदद का भाव अनायास नीचे से प्रस्फुटित हो आए। इस ढंग से मैं मानता हूं कि उनकी स्थिति और नीति अंग्रेज के प्रति मित्रता और अहिंसा दोनों ही दृष्टियों से समर्थनीय हो जाती है।'

एम० एन० राय के संस्मरण

—'आपका एम० एन० राय के साथ कुछ सम्बन्ध रहा है। साम्यवादी पार्टी को छोड़कर, जिसका रुख रूस की वजह से इस आन्दोलन की तरफ बदला था और लड़ाई की तरफ काफी बदल चुका था, एम०एन० राय उन लोगों में से थे जिनका रुख भी इस आन्दोलन के प्रति और युद्ध के प्रति गांधी जी और कांग्रेस से भिन्न था। कभी आपकी उनसे इस बारे में बातचीत हुई?'

—'हां, मेरा सम्बन्ध विशेष रहा है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। मिलने का अवसर जरूर आया और उसका कारण यह हुआ कि जवाहरलाल जी की पुस्तक निकली थी 'मेरी कहानी'। तो उस पर मुझे एक समीक्षा लिखनी थी। एक मित्र संपादक थे, उन्होंने आग्रह किया तो समीक्षा लिखी गयी। वह छपी। जरा विस्तृत-सी थी। छपने के बाद उसका अंग्रेजी में भी अनुवाद किया गया। अनुवाद मैं देख नहीं पाया था, इसलिए वह प्रकाशित नहीं हुआ। फिर दिन बीत गए तो वह पड़ा रह गया। उस अंग्रेजी अनुवाद के पृष्ठ किसी तरह से हाथ में आये एम० एन० राय के। मुझे बताया गया कि एम० एन० राय उन पृष्ठों को पढ़कर दंग रह गये। उन्होंने जानना चाहा कि यह कौन व्यक्ति है? मैं मिलना चाहता हूं इस आदमी से। तो इस ढंग से मेरा मिलना हुआ। समीक्षा में जवाहरलाल जी के व्यक्तित्व का जो एक 'समिंग अप' था, उस सम्बन्ध में जो विवेचन था, उससे वह प्रभावित हुए थे। कारण, उसमें स्तुति नहीं थी, विवेचना, समीक्षा अधिक थी। उन्होंने कहलाया कि इस लेख को अपने पत्र में छापने की मेरी है, लेकिन मेरा पत्र उनके प्रतिकूल समझा जाता है। इसलिए लेख का

हो जायेगा। छपा तो नही, लेकिन उस नाते दिल्ली में उनसे मिलना हो गया। डेढ-दो घंटे बात हुई। कहना चाहिए कि हम दोनों ही एक-दूसरे के सम्बन्ध में बहुत विस्मित हुए। वह मुझसे बात करने से पहले जाने क्या आशा रखते होंगे। लेकिन बात करने के बाद मुझसे उनकी सारी आशाएं कदाचित् भंग हो गयी। वे समझते थे कि मैं कुछ विद्रोही, क्रान्तिकारी प्रकृति का हूं। आलोचक हूं, समीक्षक हू। श्रद्धा, आस्था और आस्तिकता इन सब जड़-बाधाओं से बरी होना चाहिए मुझको। जरूर बरी हूं ऐसा उन्होने माना होगा। लेकिन जब बात करने लगे तो मालूम हुआ कि हम दोनों मे तो कही किसी तरह के मेल की भूमि ही नही है। दो घंटे की बातचीत में नही मालुम हुआ कि किसी भी बिन्दु पर हम सहमत हैं, सिवाय इसके कि जवाहरलाल जी के प्रति अनुगत का नही बल्कि तटस्थ विवेचन का दृष्टिकोण उनको रुचिकर हुआ था। उसके अतिरिक्त हमने पाया कि दोनों के बीच कोई भी सामान्य भूमिका नही है। ऐसा अनुभव आया और उसके बाद फिर मिलने का अवसर क्या आना था। राज दृष्टि और राजनीति की *अपर्याप्तता उन्हे प्रतीत होने लगी थी, लेकिन समाज से आगे समष्टि-रूप* किसी अकल्पनीय की कल्पना उन्हें मिथ्या भावुकता लगती थी। स्वीकार करता हूं कि उनकी धरती ठोस थी जबकि मेरी आस्था उनके निकट निरी अतर्क्य भावुकता भर थी।'

—'जब आप श्री एम०एन० राय से मिले तो जैसा आपने उनके बारे में देखा होगा कि वे एक जगह किसी भी दर्शन पर चाहे वह जीवन का दर्शन हो या राजनीति का, टिक नहीं सके—क्या इसका आपको कुछ आभास उनसे बातचीत करते समय हुआ?'

—'मैं मानता हू कि बौद्धिक व्यक्ति, जो उत्कटता से बौद्धिक हो, कहीं भी अन्त तक टिकेगा नही। कारण वह अपने स्व पर टिका होता है। अन्त में परिणाम यह आता है कि उसकी भाषा, उसका 'स्टैंड' उसका दृष्टिकोण इतना अवसरानुकूल, अंततः स्वानुकूल होता है कि हर भाषा उसके काम आने लग जाती है। वह अपनी स्थिति को इतनी जल्दी बदल सकता है कि दूसरे लोग समझते रहे कि बदला है, लेकिन वह तर्क से अपनी पहली स्थिति के साथ उसे पूरी तरह समर्थित करता रहेगा। श्री मानवेन्द्रनाथ राय मुझे तीव्र बुद्धिशाली पुरुष मालूम हुए और मैं मानता हूं कि बुद्धिशाली व्यक्ति को शब्दों में पकड़ा नही जा सकता। उसको आप नही कह सकते कि वह अविरोधी रहे। वह समर्थन अपने भीतर से पा लेता है, और अन्त मे उसका स्वत्व ही उसके लिए सबसे प्रधान बना रहता है। एम० एन० राय के बारे में मेरी धारणा है कि वे बड़े बुद्धिशाली और प्रतिभाशाली आदमी थे। लेकिन बुद्धि से ऊपर किसी प्रकार की श्रद्ध- स्पर्श उन्हें आवश्यक नही था। इसलिए इससे उनकी ...

उनकी सीमा भी हो जाती थी।'

मेरी दृष्टि में : जवाहर लाल नेहरू

—'आपने जवाहर लाल जी की 'मेरी कहानी' की जो समीक्षा लिखी थी उसमें आपने उनके सम्बन्ध में लिखा था कि 'जवाहरलाल इज ए नोबिल पीस आफ ट्रेजडी'। उससे आपका क्या मतलब था?'

—'अब उसके मतलब की व्याख्या में मैं क्या जाऊं? मैं समझता हूं कि वे शब्द काफी स्पष्ट हैं। मुझे लगता था कि जवाहरलाल जी के मन में इतिहास का एक चित्रपट उपस्थित रहता है। उनको अनुभव होता रहता है कि वे इतिहास के पटपर जी रहे, काम कर रहे और चल रहे हैं और इस चेतना के अधीन जो वे स्वय हैं, वह उतना नहीं रह पाते, जितना एक 'हिस्ट्री' के 'कनवास' पर चलने वाले एक चरित्र बन जाते हैं। रह-रहकर उनमें होता है कि जांचे, इतिहास में महापुरुषों की पंक्ति में वे कहां हैं, क्या 'रोल' अदा कर रहे हैं। इसकी चेतना उन्हें सचेत रखती है, और वे अपनी निजता को, प्रकृति को, स्वभाव को पूरी तरह से जी नहीं पाते हैं। 'पार्ट' जीते हैं, खुद को नहीं जीते हैं। पग-पग पर उन्हे 'सेकंड थाट' आवश्यक होता है। इसीलिए मैंने जो कहा कि 'जवाहरलाल इज ए पीस आफ ट्रेजिडी' उनका आशय यही था। क्या उनको होना चाहिए, इतिहास मे क्या उनका स्थान होना चाहिए, इस बिम्ब की चेतना को दिमाग से परे शायद ही वे रख पाते हैं। उस कारण कुल मिलाकर एक 'नोबल पीस आफ ट्रेजिडी' हो आते है। स्वयं मे उनकी सार्थकता नहीं रहती, इतिहास में हो जाती है। इस तरह का कुछ आशय था।'

—'जैसा अभी आपने कहा कि उनको इस बात की सूझ रहती थी कि उनका इतिहास के महापुरुषों में क्या स्थान है और अपना जो निजीपन था, उसको खो देते थे, क्या इससे आपको ऐसा लगता है कि उनका इसमें विरोध था, इस तरह के सोचने में। इससे उनकी राजनीति पर क्या असर पड़ा?'

—'राजनीति पर सीधा प्रभाव यह दीखता है कि महत्वाकांक्षा में से उनकी नीति बनी, जिसमें कि भारत की तात्कालिक स्थिति का उतना विचार नहीं भी रहा। हमारी योजनाओं का, हमारी वैदेशिक नीति का प्रधान लक्ष्य यह रहा कि भारत अन्तरराष्ट्रीय प्रवृत्तियों में खूब भाग ले, ऊंचा जाए, महान बने। ये सारी की सारी बातें भारत के लिए कुछ महंगी पड़ी, काफी महंगी पड़ी। जैसे कि हमारे राज-दूतावास ही है। आवश्यक हुआ कि राजदूत अन्यान्य अन्तरराष्ट्रीय और राजनयिक लोगो के समक्ष समान स्तर रखें। उनका रुतबा, रुआब कम नहीं रहना चाहिये, ऐसा उनके मन को लगता था। गांधी जी कहते थे कि हमारा देश जैसा है, अगर गरीब है तो उसके मुताबिक हमारा प्रतिनिधि रहता है तो उसमें क्या

घबराहट है ? बल्कि ऐसे वह सच्चा प्रतिनिधि बनता है। लेकिन वह दृष्टिकोण जवाहरलाल जी को जंचा नहीं। वे भारत की आन रखना चाहते थे, शान चाहते थे, चाहते थे कि भारत का जो अक्स बाहर पहुंचे वह चमकदार हो, देश के गर्व को बढ़ाने वाला हो। तो यह जो तमाम दृष्टिकोण उनका रहा, आन्तरिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जो उनकी योजनाएं बनीं, वैदेशिक नीति में भारत की आन-बान बनाये रखने को महत्व मिला, अन्तरराष्ट्रीय कार्यों में भारत को आगे बढ़कर भाग और दायित्व लेना चाहिए यह जो निश्चय हुआ—सो सब परिणाम—क्या कहूं—उनके अपने 'रोमान्टिक' दृष्टिकोण का हुआ। मैं मानता हूं कि भारत के हित में वह बहुत महंगा साबित हुआ और हो रहा है।'

मेरी दृष्टि में : गांधी जी

—'गांधी जी और पंडित जी के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर था, इसी तरह से उन दोनों के व्यक्तित्व में भी बहुत भारी अन्तर नजर आता है। गांधी जी ईश्वर में विश्वास रखते थे और पंडित जी शायद उतनी गहराई से नहीं रखते थे। पण्डित जी ने शायद एक बार कहा था कि उनको सपने भी अंग्रेजी में आते हैं। गांधी जी शायद ऐसा नहीं कह सकते थे, फिर भी गांधी जी ने उनको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। उन्होंने कहा कि मेरे जाने के बाद जवाहरलाल मेरी भाषा बोलेगा। इसके क्या कारण थे ?'

—'मुझे लगता है कि गांधी जी के जो सीधे अनुयायी थे वे अनुगत थे, जैसे राजेन्द्र बाबू, वल्लभ भाई, और कुछ राजाजी भी। जवाहरलाल जी के सम्बन्ध में उन्होंने देखा कि यह पुरुष अनुयायी नहीं है। और नहीं है, इस यथार्थता को मेरे प्रति पूरे और खुले तौर पर प्रकट करने में संकोच नहीं करता है। इसलिए ईमानदार और खरा आदमी है, सच्चा आदमी है। इसमें अपना निजत्व है, वह मौलिक है। और मैं मानता हूं कि गांधी जी अनुयायी और अनुगत नहीं चाहते थे, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति से चाहते थे कि अपना निजत्व ढूंढे और आत्मवान बने। तो मेरे ख्याल में गांधी का उत्तराधिकार उन्हें मिलने में यह कारण था। यों जवाहरलाल जी कांग्रेस की कार्यसमिति में हमेशा ही अल्पमत में रहे। गांधी जी के अनुयायी सदा बहुमत में थे। लेकिन गांधी जी आगे बढ़कर अपने अनुयायियों की परवाह न करते हुए, जवाहरलाल जी को ही कांग्रेस के शीर्ष पर बार-बार रखते रहे। उसका कारण मैं यह मानता हूं कि उनको सहमति उतनी नहीं चाहिए थी जितनी कि सच्चाई और ईमानदारी चाहिए थी। जवाहरलाल जी में उन्होंने यह देखा। अब जो उन्होंने कहा कि मेरे बाद जवाहरलाल मेरी भाषा बोलेगा, सो आशा पूरी नहीं हुई। पर आशा उनकी अकारण नहीं थी। क्योंकि आदमी में कितनी भी बुद्धि हो, कितना भी गुमान क्यों न हो, हृदय भी अवश्य होता है।

और गांधी जी मानते थे कि अगर मेरा व्यवहार जीवन भर जैसा रहा, मेरा प्रेम सच्चा रहा, तो उसका असर जवाहरलाल के दिल पर, दिमाग से ज्यादा दिल पर, जरूर पड़ता रहा होगा। तो मेरे जाने के बाद वह फल लायेगा, वह 'आपरेट' करेगा। तो दिमाग की भाषा छूट जायेगी, दिल की भाषा आ जायेगी। मैं समझता हूं कि यह आशा थी और निराधार नहीं थी। लेकिन वह बात पूरी होने में नहीं आई। शायद गांधी जी की जो इस सम्बन्ध में धारणा थी, जो अनुमान था, वह सही नहीं उतरा। क्योंकि राजनीति में वे दिल से काम ले सकें, दिमाग के ऊपर दिल आ जाय, ऐसा अवसर जवाहरलाल जी ने जैसे हठात् आने दिया नहीं। अगर जवाहरलाल थोड़ा-सा भी राजनीति से तटस्थ रह पाते, कुछ देर के लिए भी, तो मैं मानता हूं कि वह अवसर आ जाता। तब उनके दिल के भीतर का बसा गांधी ज्यादा काम करता। और वह वक्त आया, पर तब देर हो चुकी थी। वार्धक्य आ गया था और नेहरू शिथिल हो चुके थे। लेकिन स्वराज आते ही समस्याएं इतनी ज्यादा उलझती चली गयीं, इतने ज्यादा 'चैलेंजिज', चुनौतियां आती चली गयी कि जवाहरलाल जी को अपने ही गहरे में जानी, वहां की बात सुनने का अवकाश नहीं मिला। चुनौतियां बहुत ज्यादा आती रहीं और तत्कालिक प्रश्न नेहरू को उद्दीप्त किये रहे। सहृदय और मननशील नेहरू की बारी नहीं आई। इंपल्सिव 'एक्टिविस्ट' नेहरू को फुर्सत नहीं मिलने दी गयी। और आप जानते हैं कि हरेक का विचार अलग-अलग होता है और जब तक वह काम करता रहा तब तक जवाहरलाल जी गांधी जी की भाषा अपना सकते ही नहीं थे, वह सम्भव भी नहीं था। प्रेम आदमी को जिस जगह छूता है व्यक्तित्व के उस स्तर को उदय में आने का मौका नहीं आया, और आया तो वक्त गुजर चुका था।'

—'1947 में जब देश का बंटवारा होने लगा तब गांधी जी की राय यकीनी तौर पर यह नहीं थी कि देश का बंटवारा हो और ऐसा अक्सर कहा जाता है कि कांग्रेस का जो नेतावर्ग था खासकर जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और दूसरे लोग इन्होंने गांधी जी को बंटवारे के बारे में पूरा बताया नहीं और उनके विरोध के बावजूद बंटवारे को इन्होंने मान लिया। तो 1946 और 47 में यह जो खाई गांधी जी के और उनके दूसरे अनुयायियों के बीच में पड़ी इसका आप क्या कारण समझते हैं? या सत्ता का लोभ इसमें मुख्य कारण था?'

—'सत्ता का लोभ' शब्द तो बहुत स्थूल है, बहुत हल्का है। मैं समझता हूं कि उस समय जो मनोभाव काम कर रहे थे हमारे कांग्रेसी नेताओं में, वे उनकी समझ से सूक्ष्म थे और वजनी थे। वे ये कि सारे देश ने जो लड़ाई लड़ी, इतना बलिदान किया, परिणामस्वरूप देश में अब स्वराज आया है तो देश हमारी तरफ देख रहा है नेतृत्व के लिए। अब क्या हम अपनी जिम्मेदारी से भाग

जायें ? क्या करें, पीछे हटें ? तो यह भाषा उनके दिमाग ने पैदा की कि मोर्चे से भागने का अवसर हमारे लिए नहीं है। राजनीति के क्षेत्र में हमने जनता का नेतृत्व किया है। अब स्वराज आया है तो जिम्मेदारी को अपने कंधों पर लेने से इन्कार कर दें, तो अपनी जनता के साथ विश्वासघात होगा। यह भाषा और यह भाव हमारे नेतृत्व के मन में रहा। अब इसको सत्ता के लोभ का 'रैशनलाइजेशन' कहा जा सकता है या नहीं, इस मनोविज्ञान में मैं नहीं जाऊंगा। लेकिन मैं मानता हूं कि नेता लोग जेलों में रहे, सारे कष्ट बरदाश्त किये, उससे ऊब गये थे। कष्ट का ही कोई फलसफा हो तो वह उन्हें मंजूर न था। इसलिए उनको सत्ता चाहिए थी अपने लिए ऐसी बात तो नहीं थी। लेकिन गांधी जी की वह भाषा, वह श्रद्धा जहां कि विसर्जन स्वयं अपने आप में मूल्य हो आता है, प्रयोजनाश्रित विसर्जन नहीं, स्वयं विसर्जन, तो वहां तक हमारे कांग्रेस नेतृत्व का विश्वास पहुंचा नहीं था। इसलिये गांधी जी ने जो विकल्प सुझाये वे उनको जंच नहीं सके। गांधी जी ने तो यहां तक सुझाया था कि अगर अंग्रेज जाते वक्त कहते हैं कि हम किस को सौंप जाये सारी राज-व्यवस्था ? कांग्रेस को अकेले तो कैसे सौंपी जाय ? कांग्रेस और लीग को मिलाकर सौंपते हैं तो दोनों में बनती नहीं है। यह सवाल अगर तुम्हारे सामने रखते हैं अंग्रेज लोग तो उनसे कह दो कि हां, हममें और लीग में बनती नहीं हैं, लेकिन आप चले जाइये, हम आपस में भुगतते रहेंगे। नहीं तो लीग को ही सम्भला दीजिए। हां, तो लीग को ही सम्भाल लेने दो, कोई बात नहीं। अंग्रेज को तो निकल ही जाने दो। तीसरा और बाहरी आदमी निकल जायेगा, तो दोनों आपस में कुछ लड़ेंगे-झगड़ेंगे, आखिर कुछ-न-कुछ बनाव बनेगा और बैर ठंडा होगा। कलह स्थायी होती ही नहीं है। लेकिन यह बात कांग्रेस नेतृत्व को नहीं जमी। मैं मानता हूं कि यह मूलभूत अन्तर दृष्टि का उस समय अत्यन्त स्पष्ट हो आया था। लीग की तरफ से कांग्रेस आजिज आ गयी थी; यहां तक कि गांधी जी के प्रति अविश्वास का भाव हो आया उनमें और इसलिए उन्होंने सारी चीजों की खबर गांधी से चोरी रखकर उन्हें नहीं दी, उनका मश्वरा नहीं लिया, तो यह तो नहीं रहा होगा। लेकिन यह जरूर रहा होगा कि अन्तर बीच में इतना आ गया था, रूख इतना पलट गया था, कि उन्हें लगा कि अब शायद गांधी जी को कष्ट देना होगा अपनी राज-व्यवस्था की बातों को उनके पास ले जाना।

यह सही है कि गांधी जी ने कहा था कि बटवारा होगा तो मेरी जान पर से होगा, मेरी लाश के ऊपर से होगा। यानी मेरे जीते जी नहीं होगा। लेकिन बंटवारा हुआ और 'आल इंडिया कांग्रेस कमेटी' से बटवारे को स्वीकार कराने में गांधी जी की मदद हुई, उन्होंने नेतृत्व को समर्थन दिलाया। गांधी जी के

कारण ही 'आल इंडिया' कांग्रेस कमेटी' समर्थन दे सकी, अन्यथा मालूम नहीं क्या होने वाला था। यह सब जो हुआ उसको समझने में थोड़ी कठिनाई अवश्य है। माना जाता है कि गांधी जी भी बंटवारे में एक भाग रहे, जबकि दूसरी तरफ वे कहते रहे कि बंटवारा होगा तो मैं जान पर खेल जाऊंगा, मुझको मारकर बटवारा होगा। यह दोनों बातें कैसे हुई ? तो मैं मानता हूं, मुझे लगता है कि ईसा को जो सूली लगी थी, कीलों से उनको ठोका गया कि कष्ट और अधिक हो, तो यही सूली गांधी जी को लग रही थी जब वे कांग्रेस से नेता लोगों को वह समर्थन दिला रहे थे। ऐसी मेरी मान्यता है। क्योंकि क्या ईसा मसीह ने अपने सलीब को अपने कंधों आप ही नहीं ढोया था ?'

—'एक तरफ उनका बटवारे की तरफ तीव्र विरोध और दूसरी तरफ जैसा आपने कहा कि 'आल इंडिया कांग्रेस कमेटी' में उनकी वजह से ही भारत के बटवारे का प्रस्ताव पास हुआ तो क्या कारण हो सकते हैं कि गांधी जी ने बटवारे को न केवल सहन ही किया बल्कि बटवारे का प्रस्ताव पास कराने में मदद भी की ?'

—'कारण इस आत्माहुति का क्या बताया जाए ? नेतृत्व ने बटवारा स्वीकार कर लिया था। वायसराय को वचन दे दिया गया था। कांग्रेस के ही अन्दर तत्व थे जो बटवारे को मानने को तैयार नहीं थे। उन सबसे, एक-एक से गांधी जी ने बात की। सबके सामने सीधा प्रश्न उन्होंने रखा कि अगर कांग्रेस की जनता तुम्हारी बात माने और तुम्हें विश्वास सौंपे तो तुम अपनी 'वर्किंग कमेटी' बनाने को तैयार हो, इन नेताओं से अलग ? कोई एक भी इसके लिए तैयार नहीं निकला। जो लोग बटवारे के विरोध में खड़े होने पर उद्यत थे उन्होंने हिम्मत नहीं बताई। नहीं कहा कि हां, हम नहीं मानते हैं विभाजन। अगर राष्ट्र इसमें हमारा साथ देता है तो ठीक है, हम राष्ट्रीय कांग्रेस का दायित्व सम्भालेंगे। व्यक्तिशः प्रत्येक से उन्होंने पूछा, पर कोई समर्थ न निकला। गांधी जी ने देश के राजनीतिक नेतृत्व का दायित्व अपना कभी नहीं माना था। कांग्रेस में कोई तत्व तैयार थे नहीं जो बटवारे के खिलाफ कांग्रेस का नेतृत्व करें। लोग सोचते हैं कि गांधी तब खड़े हो जाते तो क्या दिक्कत थी ? और यही से सब भ्रांति खड़ी होती है। कोई नहीं मानेगा कि गांधी में शक्ति नहीं थी। वे उठते तो नेहरू वगैरह सब राजनीतिक नेताओं के विरोध में कांग्रेस जरूर उनके साथ होती। और यहीं गांधी को समझना मुश्किल होता है। पर मेरी दृष्टि में गांधी जी राजनीतिक नेतृत्व को कांग्रेस का जिम्मा मानते थे, अपना धर्म नहीं मानते थे। उनका स्वधर्म राजकरण था ही नहीं। इसलिए जब कांग्रेस का कोई व्यक्ति तैयार नहीं निकला इस दिशा में देश और कांग्रेस को ले जाने के लिए, तब क्या करते गांधी ? कांग्रेस से अपने आपको तोड़ लें ?

विद्रोह का झण्डा उठायें ? तो इस तरह की बात वे कर नहीं सकते थे। क्योंकि उनके निकट देश का राजनीतिक नेतृत्व कांग्रेस का दायित्व था, उसको कांग्रेस का ही रहने देना था। वह धर्मपुरुष थे, राजपुरुष होने की उद्दीपना, संभावना उनमें न थी।

सवाल होता है जिन लोगों ने स्वीकार किया बंटवारा, वे उनके अपने ही बनाये हुए तो थे। क्या उन्होंने ही उन्हें वहां नहीं बिठाया था ? उन्होंने मानो कहा कि हां, मैं चाहूं तो वे मेरे बनाये हुए लोग हैं, मैं उनको हटा भी सकता हूं। लेकिन फिर मैं करूंगा क्या ? नए नेता खड़े करूंगा ? आप यों समझ लीजिए कि जिस प्रकार क्राइस्ट ने 'क्रास' को अपने कंधों पर वहन किया, उसी तरह से गांधी जी ने खुद अपने को नीचे झुका कर और कंधा देकर वह 'क्रास' अपने ऊपर लिया और कांग्रेस में बटवारे के समर्थन के प्रस्ताव को पारित कराया, और फिर वहां से पूरे राजकारण से ही वह दूर चले गये।

मैं मानता हूं कि परमधर्म ने, जिसकी परिभाषा थी प्रेम और अहिंसा, उनसे ऐसा आचरण कराया। अपने बनाये लोगों पर भी अपने को थोपा नहीं। उन्हें आशीर्वाद दिया कि तुम जियो, तुम्हारी राह में मुझे मरना पड़े तो मरने दो। कहा और एकाकी अपने रास्ते पर चले गये। मैं समझता हूं कि यह बलिदान-धर्म मूल कारण इस अतर्क्य व्यवहार का है। इसमें आत्मा की अन्तरंगता के अध्ययन और विश्लेषण की आवश्यकता होगी। अन्यथा पहेली पहेली ही बनी रहेगी, कभी खुल नहीं सकेगी।

आप तो जानते हैं कि गांधी जी को मारना जिसने पुण्यकृत्य और धर्मादेश समझा उनके मन में था कि सारे बंटवारे और देश की तबाही का पाप एक गांधी पर है, उस पापी को जीने नहीं दिया जा सकता। कांग्रेसी नेताओं की तो हस्ती क्या है, वे तो गांधी के बनाए हुए हैं। ऐसा मानकर उन्हीं को मारा, बाकी सबको बख्शा और माना कि देश की और उसके (सनातन) धर्म की इस तरह उसने रक्षा की है।'

—तो मैं ऐसा समझ सकता हूं कि इस अपनी हार में उन्होंने अपने स्वधर्म पर विजय साधी ?'

—'मालूम नहीं कि स्वधर्म क्या होता है, धर्म ही क्या होता है ? लेकिन प्रेम से अलग किसी सिद्धान्तवादिता को तो धर्म कहते मुझसे नहीं बनता। धर्मों का सार प्रेम है और मैं समझता हूं कि प्रेम में जो उत्सर्ग होता है वह अतः मे धर्माचरण ही सिद्ध है। यह मोह नहीं है। ईश्वर प्रेम और मनुष्य के प्रेम में विग्रह हो आया करता है। अधिकांश ईश्वर के प्रेम में मनुष्य का प्रेम बाधक होता है। लेकिन गांधी जी के ईश्वर-प्रेम, यानि सत्य-प्रेम और मानव-प्रेम में अगर ऐसा

हो कि मानव-प्रेम की उन्होंने रक्षा की और सत्य-प्रेम की हत्या हो जाने दी, तो मैं मान लूंगा कि मोह जीता और सत्य हारा। पर मैं नहीं मान पाता हूं कि गांधी जी के साथ ऐसा हुआ। आप जानते हैं कि गांधी जी का जीवन उसके बाद जिस ढंग से बीता उसमें सत्य-आग्रह और सत्य-वर्तन का जितना तीव्र, प्रचंड 'विंडिकेशन' हमें दिखाई देता है उतना पहले शायद नहीं दिखाई दिया। जब वे कांच पर और कर्दम पर से पांव-प्यादे चले, चप्पल तक छोड़ दी, अकेले रहे, अपने साथियों को भी विदा किया, यह सब जो गुजरा उससे क्या यह कहा जायेगा कि मानव-प्रेम की रक्षा में ईश्वर प्रेम को उन्होंने कीमत में तज दिया ? इसलिए मैं उसे मोह की विजय नहीं मानूंगा, उसको धर्म की पराजय नहीं, धर्म की विजय ही मानूंगा।'

—गांधीजी अक्सर कहा करते थे कि उनकी इच्छा 125 साल तक जीने की है, और जहां तक मैंने सुना है और पढ़ा है, आखिर के दिनों में वे बहुत दुःखी थे और यह कहना भी शायद गलत नहीं होगा कि वे निराश ही मरे। इसका कारण क्या हो सकता है कि उन्होंने 125 साल तक जीने की इच्छा भी छोड़ दी थी ?'

—'मैं समझता हूं कि यह विरोध प्रत्येक अवतारी जीवन में, अन्त में प्रकट होता ही है। ईसा अन्त समय में रो पड़े, उनके आंसू आ गये। जो व्यक्ति ईश्वर से, उसके सत्य से और विधान से तद्‌गत हो गया है उसको दुःख-शोक की क्या आवश्यकता है ? लेकिन जब तक व्यक्ति सदेह है, रूपाकारयुक्त है, तब तक ईश्वर से किंचित व्यवधान और अन्तर बीच में रहता ही चला जाता है। मोह-भंग का अवकाश शेष रहता ही है। सचमुच मोह-भंग हुआ और 125 वर्ष तक रहने की जो उनकी भावना थी, जिसको परमेश्वर का विधान मानते थे, परमेश्वर के नियमों के अनुसार जो जिये उसे 125 वर्ष से पहले जाना नहीं है, विधान ऐसा है और इसलिए 125 वर्ष तक उनको जीना है, वह भावना जाती रही। मालूम हुआ कि उनका संसार जिस विधि से चल रहा है उस सबके बीच 125 वर्ष तक जीने की इच्छा भी मोह है। मोह-भंग हुआ महात्मा गांधी का, और होना था। प्रत्येक उस पुरुष के जीवन में, जो अपने जीवन को शत-प्रतिशत ईश्वराधीन मानता है, अन्त में ऐसा वक्त आयेगा ही आयेगा जब प्रतीत होगा कि संसार और ईश्वर में फांक है और उसमें निराशा व्यापेगी। कृष्ण भगवान की मृत्यु हुई तो मानना होता है कि यादवों की जीवन-प्रक्रिया देखकर उनमें शायद मृत्यु के वरण की इच्छा हो जनमी थी। जो हो रहा था उस सबके प्रति उनमें वितृष्णा हुई कि कथा में आता है कि पैर में व्याध का तीर लगा और उन्हें देह का अन्त प्राप्त हुआ। लेकिन मैं समझता हूं कि तीर लगने की घटना ही उनकी भावना में से फलित हुई थी। मृत्यु उन्हें अनुकूलता

मिली। मैं मानता हूं कि अवश्यम्भावी यह प्रक्रिया है जिसमें सम्पूर्ण आस्था के रहते भी परमेश्वर में और संसार में व्यवधान दीखता है। परमेश्वर की प्रकृति में अनुराग के कारण ही संसार के प्रति एक वितृष्णा का क्षण आता है। इसमें एक अवश्यम्भाविता है और कोई तर्क-विमुखता नहीं है। आपकी बात सही है कि कांग्रेस में अधिक लोग खुलकर हिंसा के समर्थन को तैयार नहीं थे, लेकिन सहानुभूति थी और वैसे कामों में वे मदद देते थे। मानना होगा कि इसके कारण दोनों आन्दोलनों में कमजोरी आई, कांग्रेस के अहिंसक आन्दोलन में और हिंसक क्रान्तिकारी आन्दोलन में भी। कुछ लोग थे जो पूरे योग से इसमें साथ नहीं दे सकते थे, कारण जो हो। उधर कांग्रेस आन्दोलन में वे साथ थे, काम करते थे, लेकिन आधा मन उनका हिंसक नीति की तरफ भी रहता था। इसी का परिणाम था कि गांधी जी ने लाहौर कांग्रेस में बम विस्फोट पर वाइसराय के बच जाने पर बधाई दी थी और बम काण्ड की निन्दा की थी। वह प्रस्ताव कांग्रेस में बहुमत से पास हुआ था, सर्वसम्मति से नहीं। काफी बड़ा भाग कांग्रेस कार्यकर्ताओं का था जिनके मन में उस विस्फोट के प्रति निन्दा का भाव नहीं था, कोई विरोध नहीं था। बल्कि किंचित् सहमति थी और समर्थन था। कांग्रेस समर्थन में समर्थन गांधी की नीति अथवा गांधी की अहिंसा का नहीं था, वह समर्थन था तो गांधी की राजनीति अनिवार्यता के कारण था। देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए गांधी का नेतृत्व कांग्रेस को अनिवार्य था। इसलिए बहुतेरे लोग उस संगठन में थे जो अहिंसा मन में नहीं मानते थे बल्कि मन-ही-मन हिंसक साधनों की आवश्यकता के सम्बन्ध में सहमत थे।

दिल्ली के नेता और राजनीति

—'सन् 1930 के आन्दोलन में दिल्ली में जिन लोगों ने भाग लिया, खासकर प्रमुख कार्यकर्ता जो इस आन्दोलन में थे, उनके नाम और उनके बारे में कुछ आप बता सकेंगे ?'

—'डाक्टर अंसारी तो थे ही। आसफअली थे, देशबन्धु गुप्त थे, इन्द्रजी (विद्यावाचस्पति) थे। आरिफ हस्वी भी थे जो उन दिनों जिला कांग्रेस के अध्यक्ष थे। यहां के पत्रकार जे० एन० साहनी थे। सत्यवती जी थीं। ये सब लोग उस समय, उस आन्दोलन में थे और आज के स्थानीय राजनीतिक नेताओं में से काफी लोग थे। युद्धवीर सिंह थे, राधारमण थे। याद आता है, युद्धवीर सिंह और राधारमण लाहौर जेल में नहीं थे, या तो उन्हें जमानत नहीं मिली थी, या बता बाद दी। डा० अंसारी, आसफअली तो थे वहां। डा० अंसारी के सुझाव पर, लाहौर जेल में भी इस सुविधा के कारण, यहां एक पार्लियामेंट शुरू की

गयी। एक घटना याद आती है। मैं चुपचुपाना रहता था। आगे आने की मुझमें सिफत नहीं थी। लेकिन एक बार पालियामेंट में जाने क्या चर्चा आई, खादी के बारे में या किस बारे में, तो अचरज हुआ कि मैं बोल पड़ा। थोड़ा ही बोला। अगले दिन देखता हूं कि आसफ साहब 'सेल' में पधारे हैं। विस्मय हुआ, क्योंकि मैं सदा का बहुत नगण्य व्यक्ति था। जेल के गणनीयों में मैं किसी ओर से नहीं आ सकता था। आसफ साहब ने कहा कि जैनेन्द्र, तुम कल बोले थे और मेरे मन में हुआ कि तुमसे बातचीत की जाय। मैं तुमसे यह कहने के लिए आया हूं कि तुम्हें राजनीति में सक्रिय भाग लेना चाहिए। मैंने कहा कि मुझमें तो इससे उल्टा निर्णय बन चुका है। यह कि मुझे राजनीति में सक्रिय भाग नहीं लेना है। वे समझाने लगे कि यह बहुत गलत फैसला है तुम्हारा। कहा कि राजनीति में काम करने वाले बहुत हैं सोचने वालों की कमी है। जो गहराई में जाएं ऐसों की जरूरत है। तुम कभी इस मैदान से किनारा मत करना। मैंने कहा कि यह सब चीज अपने बस की मालूम नहीं होती है। फिर सबसे अहम यह है कि मैंने पा लिया है कि भीतर मेरे भय बैठा है। भय रखकर मैं शामिल हुआ तो उस अहिंसक आन्दोलन के साथ न्याय नहीं कर सकूंगा। हिंसक पराक्रम में तो भीतर भय रह भी सकता है। उसमें सेनापति पीछे रहे तो कोई कठिनाई नहीं। सेनापति आदेश देता है, उसमें हो सकता है कि लड़ें सिपाही, जानें तो उनकी जायें, और 'चीफ' पीछे सकुशल रहे। लेकिन अहिंसक आन्दोलन में, उसके सत्याग्रह में, इसका बिल्कुल अवकाश नहीं है। अहिंसक आन्दोलनमें तो सेनापति को, या जो भी हो, उसके सामने आकर छाती पर वार लेना चाहिए। अन्यथा अहिंसा खरी अहिंसा नहीं है। जब आपने दिल्ली के लोगों की बात कही तो मुझे यह घटना याद आ गयी।

'पंजाब के सभी प्रमुख नेता वहां थे। डाक्टर गोपीचन्द थे, सत्यपाल थे, किचलू थे। जफरअली खां थे जो कि बाद में मुस्लिम लीगी बन गये, लेकिन उन दिनों बहुत सरगर्म 'नेशनलिस्ट' थे। मुहम्मद आलम थे। फ्रंटियर के अब्दुल गफ्फार खां और उनके साथी थे।'

— 'दिल्ली में नमक सत्याग्रह कैसे चला था ?'

—एक कम्प लगा था जमुना पर और वहां से बाद में जत्था भेजा गया। पहला जत्था पांच आदमियों का था। मैंने आपसे कहा कि उस जत्थे का नेता बनाकर मुझे भेजे जाने का निर्णय था और क्यों मैंने असहमति जताई थी। लेकिन जत्था गया और कोई जाने-माने कांग्रेसी नेता उसके नेता नहीं थे। स्वयंसेवकों में से ही वह जत्था तैयार किया गया था। शाहदरा में जाकर उसने नमक तैयार

किया। नमक तैयार करना माने बड़ी कड़ाही में पानी डाला गया, उसको पकाया गया, उसमें से मिट्टी निकाली गयी इत्यादि-इत्यादि। जब पहला नमक बना तो लोग एक-एक चुटकी लेने झपटे और उस नमक को बड़ा पवित्र समझा गया। बराबर जत्थे जाते थे और नमक तैयार होता था और वे गिरफ्तार किये जाते थे।'

जेलों में वर्गीकरण

—'आपने 1920 का और 1930 का भी आन्दोलन देखा। इन दोनों आन्दोलनों में जो लोग सम्मिलित हुए थे उसमें आपको कुछ फर्क नजर आया? 1920 और 1930 के आन्दोलनों में किन-किन तबकों के लोग ज्यादा थे?

—'अन्तर था। मैं अपने अनुभव के आधार पर कहना चाहूंगा कि सन् 1920 के आन्दोलन में औसतन जो गये वे कार्यकर्ता जन थे। मानो सारे देश भर में एक प्रकार की जागृति पैदा हुई थी। नेता-जनता का भेद उतना न था। लेकिन सन् 1930 के आन्दोलन में शहरों में से लोग सामने आये। वे शुद्ध कर्तव्य और त्याग के नाते नहीं उठे थे, बल्कि एक वृत्ति होती है सब तरह के सार्वजनिक कामों में आगे दिखने की। वह वृत्ति उभर चली थी। सन् 1930 के आन्दोलन में इस ढंग के लोग ज्यादा थे। सन् 1920 में भावनाशील अधिक थे।'

—''सन् 1930 के आन्दोलन में, जो कि जन-आन्दोलन था, ज्यादा आम लोग ही शामिल थे, जो कि निचले तबकों के थे जैसे कि किसान, या शहर के मजदूर और छोटे काम करने वाले, या बड़े लोगों की भी ज्यादा 'पार्टिसिपेशन' था?'

—'हां, सन् 1920 और 1930 के आन्दोलन में यह अन्तर कहा जा सकता है। सन् 1920 के आन्दोलन में जन-वर्ग और नेतृ-वर्ग, इनमें विशेष अन्तर न था, लेकिन 1930 के आन्दोलन में नेतृ-वर्ग आगे आने वाला प्रमुख

थोड़ी पैदा हुई ।'

—'जेलों में सरकार ने जो वर्गीकरण किया, अर्थात् जो पढ़े-लिखे और प्रतिष्ठित लोग थे, उनको एक वर्ग में और दूसरों को दूसरे वर्ग में, इससे क्या आप ऐसा मानते हैं कि उसने जो आगे आने वाले जन-आन्दोलन थे उनको कुछ हद तक कमजोर किया और कार्यकर्ता आपस में मिल-जुल नहीं सके ?'

—'हां, मैं मानता हूं कि इससे नुकसान हुआ, आन्दोलनों में ढील आई, लोगों में फर्क आया। मैं अपनी ही बात कहता हूं। यह शायद सन् 1930 की बात नहीं, सन् 1932 के आन्दोलन की बात है। मेरा 'केस' अगली तारीख को था। उससे पहले एक दिन एक अधिकारी कांग्रेस नेता का 'केस' था। मैंने उनसे पूछा कि आपके 'केस' में कुछ 'क्लास' की चर्चा आई थी ? उन्होंने कहा, 'हां, पूछा था कि आपकी आमदनी क्या है ?' तब मैंने पूछा, 'आपने क्या उत्तर दिया ?' उन्होंने कहा कि मैंने बताया, 'जितना एक आई० सी० एस० का वेतन होता है वह मेरा एक मास का खर्च है।' सुनकर मन को बहुत धक्का लगा। मैंने सोचा कि अगर हमारे नेता खर्च के बारे में गर्व के साथ इस प्रकार की बात कह सकते हैं कि आई० सी० एस० की तनखाह क्या चीज है, उतना मेरा खर्च है; तो यह तो आन्दोलन की कमजोरी हुई ! अगले दिन मेरा 'केस' था। 'केस ट्राई' करने वाला मैजिस्ट्रेट अंग्रेज था। इसलिए अंग्रेजी में ही बातचीत हुई थी। अन्त में उन्होंने पूछा : 'आप कहां वकालत करते हैं, दिल्ली में ?' मुझमें गुस्सा था, कहा, 'आप क्या कह रहे हैं, वकालत ? वकालत से मेरा क्या ताल्लुक है ?' कहने लगे, 'फिर आप कहीं यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर होंगे ?' मैंने कहा, 'क्या आप मेरा मजाक उड़ाना चाहते हैं ? मैं मैट्रिक तक पढ़ा आदमी हूं। वकालत और प्रोफेसरी की बात आप क्या करते हैं ?' कहने लगे, 'तो-तो' और वे उलझन में दिखे। मैंने कहा, 'साहब, क्या आप मेरी आमदनी पूछते हैं ? मेरी आमदनी का कुछ ठीक ठिकाना नहीं है। यानी 'इट इज मीगर इनफ, एण्ड एट दि टोप आफ इट, इट'स क्वाइट प्रिकेरियस।' अब वे मेरी तरफ देखने लगे और कहने लगे, 'देन आई कैन नाट गिव यू ए क्लास ?' मैंने कहा, 'यू कैन नाट गिव मी इवन बी ? यू आर जस्ट नाट एन्टाइटल्ड टु गिव मी इवन बी क्लास ?' यानी मुझे चिढ़ थी पिछले दिन की बात की। जब मैं लौटकर आया तो मालूम हुआ कि मुझको 'बी क्लास' दिया गया है। मैंने 'प्रोटेस्ट' करना चाहा, लेकिन जैसा मैंने आपसे कहा मुझे जबरदस्ती उस बैरक से हटा दिया गया। यह तो मन की कमजोरी है कि अपने को विशिष्ट ऊंचा बताया या दिखाया जाये। यह कमजोरी व्याप्त हो रही थी। कई लोग मैं ऐसे जानता हूं जिनको 'सी क्लास' मिली क्योंकि वे इतने जाने-माने आदमी नहीं थे। लेकिन उन्होंने अपने 'इनकम टैक्स' के 'सर्टिफिकेट' वगैरह 'कोर्ट' में पेश किये कि हम पैसे वाले आदमी हैं। अगर यह बात आ गयी

किया। नमक तैयार करना माने बड़ी कड़ाही में पानी डाला गया, उसको पकाया गया, उसमें से मिट्टी निकाली गयी इत्यादि-इत्यादि। जब पहला नमक बना तो लोग एक-एक चुटकी लेने झपटे और उस नमक को बड़ा पवित्र समझा गया। बराबर जत्थे जाते थे और नमक तैयार होता था और वे गिरफ्तार किये जाते थे।'

जेलों में वर्गीकरण

—'आपने 1920 का और 1930 का भी आन्दोलन देखा। इन दोनों आन्दोलनों में जो लोग सम्मिलित हुए थे उसमें आपको कुछ फर्क नजर आया? 1920 और 1930 के आन्दोलनों में किन-किन तबकों के लोग ज्यादा थे?

—'अन्तर था। मैं अपने अनुभव के आधार पर कहना चाहूंगा कि सन् 1920 के आन्दोलन में औसतन जो गये वे कार्यकर्त्ता जन थे। यानी सारे देश भर में एक प्रकार की जागृति पैदा हुई थी। नेता-जनता का भेद उतना न था। लेकिन सन् 1930 के आन्दोलन में शहरों में से लोग सामने आये। वे शुद्ध कर्त्तव्य और त्याग के नाते नहीं उठे थे, बल्कि एक वृत्ति होती है सब तरह के सार्वजनिक कामों में आगे दिखने की। वह वृत्ति उभर चली थी। सन् 1930 के आन्दोलन में इस ढंग के लोग ज्यादा थे। सन् 1920 में भावनाशील अधिक थे।'

—"सन् 1930 के आन्दोलन में, जो कि जन-आन्दोलन था, ज्यादा आम लोग ही शामिल थे, जो कि निचले तबकों के थे जैसे कि किसान या शहर के मजदूर और छोटे काम करने वाले, या बड़े लोगों को भी ज्यादा 'पार्टिसिपेशन' था?'

—'हां, सन् 1920 और 1930 के आन्दोलन में यह अन्तर कहा जा सकता है। सन् 1920 के आन्दोलन में जन-वर्ग और नेतृ-वर्ग, इनमें विशेष अन्तर नहीं बना था, लेकिन 1930 के आन्दोलन में नेतृ-वर्ग आगे आने वाला प्रमुख वर्ग अलग दीखता था और जन-वर्ग कुछ थोड़ा अलग था। सन् 1920 से सन्' 30 में अपेक्षाकृत यह भेद अधिक था। क्लासिज ए, बी, सी सन् 1920 के आन्दोलन में लगभग नहीं थी, इससे बड़े-छोटे में एक तरह का आपसीपन रहता था। ए, बी, सी क्लासिज सन् 1930 के आन्दोलन में पैदा हुई और इसने थोड़ा-सा इस आन्दोलन पर भी प्रभाव डाला। अन्तर बढ़ता गया लगातार। नेतृ-वर्ग एक हो गया और जन वर्ग अर्थात् सिपाही अलग-सा छूटा रह गया। यह कम-बद की भावना

थोड़ी पैदा हुई।'

—'जेलों में सरकार ने जो वर्गीकरण किया, अर्थात् जो पढ़े-लिखे और प्रतिष्ठित लोग थे, उनको एक वर्ग में और दूसरों को दूसरे वर्ग में, इससे क्या आप ऐसा मानते हैं कि उसने जो आगे आने वाले जन-आन्दोलन थे उनको कुछ हद तक कमजोर किया और कार्यकर्ता आपस में मिल-जुल नहीं सके?'

'—'हां, मैं मानता हूं कि इससे नुकसान हुआ, आन्दोलनों में ढील आई, लोगों में फर्क आया। मैं अपनी ही बात कहता हूं। यह शायद सन् 1930 की बात नहीं, सन् 1932 के आन्दोलन की बात है। मेरा 'केस' अगली तारीख को था। उससे पहले एक दिन एक अधिकारी कांग्रेस नेता का 'केस' था। मैंने उनसे पूछा कि आपके 'केस' में कुछ 'क्लास' की चर्चा आई थी? उन्होंने कहा, 'हां, पूछा था कि आपकी आमदनी क्या है?' तब मैंने पूछा, 'आपने क्या उत्तर दिया?' उन्होंने कहा कि मैंने बताया, 'जितना एक आई० सी० एस० का वेतन होता है वह मेरा एक मास का खर्च है।' सुनकर मन को बहुत धक्का लगा। मैंने सोचा कि अगर हमारे नेता खर्च के बारे में गर्व के साथ इस प्रकार की बात कह सकते हैं कि आई० सी० एस० की तनखाह क्या चीज है, उतना मेरा खर्च है; तो यह तो आन्दोलन की कमजोरी हुई! अगले दिन मेरा 'केस' था। 'केस ट्राई' करने वाला मैजिस्ट्रेट अंग्रेज था। इसलिए अंग्रेजी में ही बातचीत हुई थी। अन्त में उन्होंने पूछा: 'आप कहां वकालत करते हैं, दिल्ली में?' मुझमें गुस्सा था, कहा, 'आप क्या कह रहे हैं, वकालत? वकालत से मेरा क्या ताल्लुक है?' कहने लगे, 'फिर आप कहीं यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर होंगे?' मैंने कहा, 'क्या आप मेरा मजाक उड़ाना चाहते हैं? मैं मैट्रिक तक पढ़ा आदमी हूं। वकालत और प्रोफेसरी की बात आप क्या करते हैं?' कहने लगे, 'तो-तो' और वे उलझन में दिखे। मैंने कहा, 'साहब, क्या आप मेरी आमदनी पूछते हैं? मेरी आमदनी का कुछ ठीक ठिकाना नहीं है। यानी 'इट इज मीगर इनफ, एण्ड एट दि टॉप आफ इट, इट'स क्वाइट प्रिकेरियस।' अब वे मेरी तरफ देखने लगे और कहने लगे, 'देन आई कैन नाट गिव यू ए क्लास?' मैंने कहा, 'यू कैन नाट गिव मी इवन बी? यू आर जस्ट नाट एन्टाइटल्ड टु गिव मी इवन बी क्लास?' यानी मुझे चिढ़ थी पिछले दिन की बात की। जब मैं लौटकर आया तो मालूम हुआ कि मुझको 'बी क्लास' दिया गया है। मैंने 'प्रोटेस्ट' करना चाहा, लेकिन जैसा मैंने आपसे कहा मुझे जबरदस्ती उस बैरक से हटा दिया गया। यह तो मन की कमजोरी है कि अपने को विशिष्ट ऊंचा बताया या दिखाया जाये। यह कमजोरी व्याप्त हो रही थी। कई लोग मैं ऐसे जानता हूं जिनको 'सी क्लास' मिली क्योंकि वे इतने जाने-माने आदमी नहीं थे। लेकिन उन्होंने अपने 'इनकम टैक्स' के 'सर्टिफिकेट' वगैरह 'कोर्ट' में पेश किये कि हम पैसे वाले आदमी हैं। अगर यह बात आ

तो जिस आन्दोलन में अपने आत्मोत्सर्ग की बात है, बलिदान की बात है, साधारण से साधारण जनता से एकीभाव में मिल जाने की बात है, उस आन्दोलन की रीढ़ कच्ची तो रह ही जायेगी। और यह हुआ। लेकिन गांधी का प्रभाव गहरा था और पूरा राष्ट्र एक उत्सर्ग और बलिदान के भाव से उबल पड़ा था।'

—"क्या आप इससे यह अन्दाजा लगा सकते हैं कि जो सन् 1920 का आन्दोलन था उसका नैतिक स्तर सन् 1930 के आन्दोलन से काफी ऊँचा था यद्यपि 'मास पार्टिसिपेशन' के नुक्ते निगाह से चाहे वह कुछ कम रहा हो?'

—'हां, मैं तो ऐसा कहूंगा। किन्तु नैतिक शब्द जरा विवादपूर्ण भी हो जाता है। कारण, मैं मानता हूं कि अहिंसा के फलितार्थ का उस समय भी पूरा बोध नहीं था। इसलिए चरित्रबल उसे कहिए, नैतिक बल न कहिए। क्योंकि चौरी-चौरा कांड हो गया। सन् 1930 में ऐसी किसी चौरी-चौरा के होने की बात नहीं थी। इसलिए चरित्रबल तो शायद कह दिया जाये, अहिंसक शब्द थोड़ा विवाद-ग्रस्त हो सकता है।'

'जैनेन्द्र जी, जब आप राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने लगे तो आपकी साहित्य की तरफ रुचि कैसे हुई?'

—'मैं जो राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने लगा, वह किसी अपनी विशेष प्रेरणा या रुचि-विवेक के कारण नहीं, संयोग ऐसा हुआ कि महात्मा भगवानदीन जी मेरे सम्बन्धी थे और मध्य प्रान्त के आन्दोलन में एक प्रमुख कार्यकर्ता के रूप में उनको जेल जाना पड़ा। इस कारण मेरा राष्ट्रीय क्षेत्र से सम्पर्क हुआ। अन्यथा मैं यह अनुभव करता था कि राजनीति के लिए जितना दबंगपना आवश्यक है, वह मुझमें नहीं है। मैं बहुत चुप-चुपाना, संकोची ढंग का आदमी था। मुझे लगता है कि मेरा ही प्रश्न होता तो शायद मैं इस क्षेत्र में न आता। चूंकि मैं संकोची, दब्बू-सा आदमी था इसलिए भी शायद मेरा मन खुलकर सफलता के क्षेत्र की ओर नहीं जा सका, या उस सम्बन्ध में नहीं सोच सका। कुछ अन्दर ही अन्दर घुमड़ता रहता था और प्रबल-कर्म में फूट नहीं पाता था। इससे हो सकता है कि आन्तरिकता साधन बनी हो और शब्द में प्रगट होने पर मैं साहित्यिक समझ लिया गया हूं।

'सन् 1922 में मैं नागपुर में था और वहां फिर मध्य प्रदेश में, मैंने कांग्रेस के कार्य में योग दिया। वहीं मैं गया कांग्रेस में प्रतिनिधि बनकर गया। इन सम्पर्कों के कारण सन् 1923 में मुझे झण्डा सत्याग्रह में शामिल होना पड़ा। उसके बाद, झण्डा सत्याग्रह का जब अन्त हुआ तो दिल्ली में कांग्रेस का 'स्पेशल सेशन' हुआ। उसके बाद काकीनाडा कांग्रेस हुई थी, जिसमें मौलाना मुहम्मद अली अध्यक्ष थे।

उस समय प्रश्न गर्म था कि कौंसिल प्रवेश खुले या निषिद्ध ही रहे। यह कांटे का प्रश्न बना और उस पर कांग्रेस में भेद भी पड़ गया। काकीनाडा कांग्रेस में यह अपने उत्कर्ष पर था। तो इस सासर्ग से मैं राजनीति के क्षेत्र मे कहिए, विवश और अनायास भाव से आ गया। गुण-कर्म-स्वभाव से मैं शायद उसके योग्य नही था। राजनीति का पहला ही एक खट्टा अनुभव जैसे जीवन भर के लिए मुझे काफ़ी हुआ।'

—'उस वक्त जो 'कौंसिल एंट्री' का सवाल पैदा हुआ, उसमें महात्मा भगवानदीन की क्या राय थी और वे किस पक्ष में थे?'

—'महात्मा भगवानदीन और पंडित सुन्दरलाल—इन दोनों की लगभग अभिन्न जोड़ी थी और ये दोनों ही कौंसिल प्रवेश के कट्टर विरोध मे थे। जिसको 'नो-चेंजर' कहते थे उन दिनों मे दोनो ही उस ग्रुप में थे और बहुत सख्ती और कट्टरपन के साथ।

—'आप 1930 में कैद हुए। 1930 के आन्दोलन के बारे में ऐसा अक्सर कहा जाता है कि जो हिन्दुस्तानी अफसर थे वे इस आन्दोलन के प्रति कुछ सद्भावना रखते थे और इस कारण से जब कभी वारंट 'इश्यू' हो जाते थे तो लोगों को गिरफ्तार करने में देर कर देते थे और किसी प्रकार की सुविधाएँ लोगों को दे देते थे; आपकी इस बारे में क्या राय है?'

—'यह बात सही है कि अधिकाश हिन्दुस्तानी अफसर मन ही मन सद्भावना और सहानुभूति भी रखते थे। लेकिन मैंने आपको कहा कि सन् 1920 के आन्दोलन में शायद चरित्रबल था और 1930 के आन्दोलन की अपेक्षा दृढ़ता विशेष थी। उसका उदाहरण मैं दे सकता हूं। नागपुर झण्डा सत्याग्रह के सम्बन्ध में जब मेरे नाम सम्मन आया, गिरफ्तारी कहिए, तो उसी पर मैंने लिख दिया कि यदि आपत्ति न हो तो सम्मन मे लिखे समय के बजाय अमुक समय मै उपस्थित हो सकूंगा। मजिस्ट्रेट अंग्रेज मि० स्लेनी थे। यह मैंने लिख दिया और नागपुर से वर्धा चला गया। किसी तरह की कोई कानूनी कार्यवाही मेरे खिलाफ नही की गई। लिखा था उसके हिसाब से मैं तीन बजे निश्चित दिन जा पहुंचा और मि० स्लेनी ने अभिवादनपूर्वक मेरा स्वागत किया। मजा तो मुझे दी। लेकिन 'एक्यूज्ड' और 'मैजिस्ट्रेट' के बीच इंसानी रिश्ता बन सका। मुलजिम के प्रति न्यायाधीश का इस तरह का व्यवहार क्या सम्भव हो सकता है? पर सम्भव हुआ, यहा तक कि अभियुक्त अपनी उपस्थिति का समय स्वयं नियत करता है और बावजूद इसके कि यह कानून की अवज्ञा है कोई दुष्परिणाम नही होता! आप देखें कि वह आफिसर अंग्रेज था। हिन्दुस्तानी अफसरों मे सन् 1930 के आन्दोलन में अवश्य सद्भाव रहा, सहानुभूति रही अपने सत्याग्रही भाइयो के प्रति। लेकिन

मुझे लगता है कि स्वयं अंग्रेज मे उस तरह का जो समझौते का भाव था, एक लिहाज था वह शायद उतना ही नही था 'जितना सन् 20 आदि के आन्दोलन में था। कारण, तब चरित्र पर बल था।'

—'अंग्रेज का जो दृष्टिकोण बदला इसके आप क्या कारण समझते हैं? क्या इसीलिए वह बदला कि सन्' 30 का आन्दोलन ज्यादा तेज था और वे यह समझ रहे थे कि इससे उनका खतरा पैदा हो सकता है और सन् '20 का आन्दोलन उतना प्रबल नही था?'

'ऐसा मैं नही मानता हूं। मुझे लगता है कि सन्' 30 के आन्दोलन के रूप को उन्होंने अधिक राजनीतिक माना, जिसमें चालाकी और चालबाजी वगैरह की भी गुंजाइश हो सकती है। सन्, 20 का आन्दोलन स्पष्टता से भावनात्मक और आदर्शात्मक विशेष था। इसलिए अंग्रेज को शको-सुबह की जरूरत कम मालूम होती थी। विरोध तो जरूर करते थे, जुल्म भी करते थे, लेकिन शक कम और भरोसा अधिक था। सन्, 30 के आन्दोलन मे मुझे लगता है कि वह बात नही रही, उनको शक हो गया कि ये चालबाजी से भी काम ले सकते हैं। मुझे अपनी याद है सन्, 30 के आन्दोलन की। एक गांधी विचारधारा में पगे भाई ने कहा, 'देखो यह झण्डा लो और इसको जेब मे रखो। यह डंडी है, इसे इस तरह से लेकर जाओ जैसे कि तुमको छड़ी रखने की आदत है। इस डंडी को झण्डे पर चढ़ाना घटाघर पहुंचकर। वहां सत्याग्रह करना है।' मैंने कहा कि डंडे को छिपाकर ले जाना पड़ेगा? तो कहने लगे, 'हां-हां' सत्याग्रह तो उस जगह पर पहुंचकर करना है।' सन् 1930 मे यह बात हुई। मुझे लगता है कि सन् '20 में यह होशियारी शायद किसी को नही सूझती। नागपुर मे झण्डा सत्याग्रह हुआ। उस वक्त इस तरह की बात किसी के मन मे नही आती कि वहां तक छिपकर ले जाना है और इसउस तरह से करना है। ऐसा मालूम होता था तब कि विद्रोह है तो खुला है, खुली अवज्ञा है। इस तरह मुझे लगता है कि दोनों स्थितियों में तनिक अन्तर था।'

—'अगर गांधीजी का अभय का विचार लोगों में अच्छी तरह से फैल जाता जो सन् '20 के आन्दोलन का मूलसूत्र था तो सन् '30 का आन्दोलन और मजबूत होता परन्तु वह नही हुआ। इसके क्या कारण थे?'

—'यह जो आपने 'अगर' की बात कही, यह बहुत बड़ा अगर है। राजनीतिक आजादी हासिल करने की आतुरता भी इसमें कारण हो सकती है। नीति-अनीति क्या होती है? यह सब 'क्या झमेला है? आजादी हमको लेनी है कि नही? लड़ाई आजादी की है न? तो क्या इन छोटी-मोटी बातो पर अटक कर रह जाया जाय? सचमुच आगे चलकर गांधी के सिद्धान्तो के फलित

क्या है, चरितार्थ क्या है, उस सम्बन्ध में उतनी सावधानी नहीं रही। जैसे आन्दोलन की क्षमता बढ़ी, साधन शुद्धि का ध्यान कम होता गया। और तो और, सन् 42 के आन्दोलन को आप लीजिए। सबसे बड़े और प्रामाणिक गांधी-वाद के, गांधी विचारधारा के व्याख्याता मशरूवाला माने जाते हैं। गांधी जी तो जेल में थे। मशरूवाला ने तोड़-फोड़, रेल गिराना, पटरी उखाड़ना, इन सबका उन्हीं के पत्र के सम्पादकीय में समर्थन कर डाला। अब मशरूवाला जैसा व्यक्ति भी अहिंसा के गर्भित अर्थ क्या है, उसकी चरितार्थता क्या है, इस सम्बन्ध में चूक कर सकता है, तो साधारण आदमियों से हम क्या अपेक्षा कर सकते हैं? मशरू-वाला के मन में कोई किसी प्रकार की आसक्ति नहीं थी, लोभ नहीं था। वे सत्ता नहीं चाहते थे। वे तो शुद्ध तत्व-विचार के व्यक्ति थे। लेकिन फिर भी वे अहिंसा को समझने में चूक कर गये। गांधी जी को जब मालूम हुआ तो उन्होंने उसका खण्डन किया और मशरूवाला से पूछा कि यह क्या? तो मशरूवाला ने माना कि हां, उनके समझने में गलती हुई। आपने जो 'अगर' कहा है, वह बहुत बड़ा अगर है। मैं मानता हूं कि अगर देश जितनी एक व्यापक इकाई पर अहिंसा का प्रयोग किया जायेगा, तो उसमें इस तरह की त्रुटियां होना तो थोड़ा सम्भव रहेगा ही।'

गांधी इर्विन पैक्ट

—'1930 के आन्दोलन के बाद जो 'गांधी-इर्विन पैक्ट' हुआ, उसको कांग्रेस के तरुण दल ने पसन्द नहीं किया, जिसके नेता जवाहरलाल और सुभाष बाबू थे। क्या आपके विचार में इतने बड़े जन-आन्दोलन का यह जो अन्त हुआ, क्या वह राजनीतिक दृष्टिकोण से सही था?'

—'उन्होंने 'गांधी-इर्विन पैक्ट' को मूलतः नहीं माना, या नहीं मानना चाहा, ऐसी तो मेरी धारणा नहीं है। मैं मानता हूं कि 'गांधी-इर्विन पैक्ट' की कुछ बातें ऐसी थी, जिनसे उनको असंतोष था। लेकिन कुल मिलाकर ये लोग, नेहरू वगैरह, जड़ से ही 'गांधी-इर्विन पैक्ट' के खिलाफ थे, ऐसा मैं नहीं मानता हूं। लेकिन आप जानते हैं कि 'गांधी-इर्विन पैक्ट' के बाद कराची में कांग्रेस हुई थी और वहां पर गांधी जी को काले झण्डे दिखाये गये थे, काले फूल पेश किये गये थे। हां, एक वर्ग था जो पैक्ट' के तो इतना विरुद्ध था नहीं, जितना कि 'पैक्ट' में भगत सिंह को छुड़ाने की शर्त न रखे जाने पर क्रुद्ध था। इन लोगों की धारणा थी कि 'पैक्ट' में एक शर्त भगत सिंह को फांसी से छुड़ाने की लाजमी होनी चाहिए थी। वह शर्त उसमें नहीं थी, इस पर लोगों में व्यापक और गहरा असंतोष था। यह माना जा सकता है, लेकिन जवाहरलाल जी उसके मूलतः विरोध में थे, ऐसी तो मेरी धारणा नहीं है।'

—'मैं आपसे पूछ रहा था कि इतने बड़े जन-आन्दोलन का अन्त जिस 'गांधी इर्विन पैक्ट' में हुआ, उसकी जो शर्तें थीं व कहां तक राष्ट्रीय हित में थी और 1930 के आन्दोलन के जो मूल लक्ष्य थे, वे कहां तक पूरे हुए, इसके बारे में आपकी क्या राय है ?'

—'हमें याद रखना होगा कि गांधी राजनीति से अधिक धर्म-नीति के पुरुष थे। उनकी युद्ध-नीति को समझने के लिए यह स्मृति बहुत आवश्यक है। लड़ाई अवश्य स्वराज्य की थी। पर सत्याग्रह, सन् '30 का नमक कानून की अनैतिकता के मुद्दे पर केन्द्रित था। लोगों को अचरज था कि स्वराज्य जैसे बड़े प्रयोजन के बीच इस नमक के मुद्दे की क्या हैसियत है ? पर गांधी के दांडी-कूच ने देश भर में अद्भुत जान फूंक डाली। राज्य सत्ता के विरोध मे एक सामान्य आदमी के अधिकार की उससे प्रतिष्ठा हुई। राष्ट्र से भी अधिक मानव-अधिकार का प्रतीक बना वह आन्दोलन। अर्थात् राजनीति के ऊपर मानव-नीति की उसने जय साधी। 'गांधी-इर्विन संधि' में से वह फल मिलता हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है, इसीलिए आपका सवाल है। इसलिए वह फल अपर्याप्त-सा प्रतीत हो सकता है। पर मैं मानता हूं कि उसमे एक गहरी और बुनियादी विजय गर्भित है।'

'देश का मानस भगत सिंह आदि क्रांतिकारियों को लेकर उस समय बहुत उद्विग्न और उद्दीप्त था। संधि-पत्र मे गांधी ने उस तक की चिन्ता और रक्षा नहीं की और उन देश भक्तों को फांसी लग जाने दी। इस पर सच ही देश बहुत क्षुब्ध था। पर गांधी ने उन क्रांतिकारियों को फांसी के दंड से बचाने का प्रयत्न भरपूर किया। सिर्फ संधि की एक शर्त के तौर से उस पर नहीं अड़ सके। क्या उनकी इस असमर्थता में भी आप एक गहरा सत् सिद्धान्त नहीं देख सकते हैं ? क्या आप राज्य को बदलने या पलटने के उपाय के रूप में राजनीतिक हत्या का समर्थन कर सकेंगे ? क्या यह आवश्यक नहीं माना जायेगा कि समाज में परस्पर हिंसा का अधिकार सर्वथा निषिद्ध और अवैध रहे, और केवल वैध रूप में उस प्रकार के दमन या दंड का अधिकार राज्य के पास ही सुरक्षित रहे ? इसको अमान्य करना समूची सभ्यता के विरुद्ध जाना ही जायेगा।

'गांधी-इर्विन समझौता चाहे अब ठंडा-सा प्रतीत हो सकता हो, पर वह आन्दोलन था, और उसमें पाई गयी विजय थी, जिसने हिन्द-स्वराज्य को दूर से पास किया और जिसने विदेशी साम्राज्य की नीव को ढीला कर दिया।

'एक और बात ध्यान देने की है। गांधी का मानना था कि आन्दोलन की जीत में भी उसके मूल मुद्दे को फैलाना अनैतिक होगा। यह प्रतिपक्ष की कमजोरी का लाभ उठाना हो जायेगा। राजनीति में इस चतुराई का जितना भी चलन हो,

गांधी-नीति में इसका अवकाश किंचित् भी नहीं है।'

'जैनेन्द्र जी, जेल से छूटने के बाद जब आप दूसरी बार सन् 1932 में जेल गये, इस दौरान में आपका राजनीति में कौन-सा क्षेत्र रहा?'

—'सन् 1930 के आन्दोलन के बाद स्थितियां कुछ थोड़ी उलझ गयी थी। कारण, नौजवान भारत सेना के नाम से पंजाब में एक आन्दोलन चला और वे युवजन गांधी जी के शान्तिमय आन्दोलन की प्रकृति एवं प्रवृत्ति से संतुष्ट नहीं थे। समझौता हुआ 'गांधी-इर्विन पैक्ट'। लेकिन उससे वे लोग बहुत असंतुष्ट थे। यहां तक कि कराची कांग्रेस अधिवेशन में गांधी जी को काले झण्डे दिखाये गये। और भी कांग्रेस में कुछ तत्व थे जो उससे संतुष्ट नहीं थे।'

राऊण्ड टेबिल कांफ्रेंस सन् '30

बाद में गांधी जी जब 'राऊण्ड टेबिल कार्फेस' में गये और लौटे, तब तक फिर एक संघर्ष उपस्थित हो गया था। संयुक्त प्रदेश में उस समय वहां किसानों के प्रश्न को लेकर जवाहरलाल जी खड़े हुए और उनको गिरफ्तार कर लिया गया। गांधीजी लौटकर बम्बई में उतरे तो उनको यह समाचार मिला। उनके लिए तब दूसरा रास्ता था ही नहीं। और फिर युद्ध छेड़ देना पड़ा। जहां तक मेरा प्रश्न है, मेरे साथ एक अजीब घटना हुई। सन् 1930 में नमक सत्याग्रह के लिये यहां अभियान आरम्भ हुआ तो उसमें पहला जत्था बना सत्याग्रह करने के लिए। और उसका नेता मुझे बना दिया गया। मैं तो कांग्रेस का सक्रिय कार्यकर्त्ता था नहीं। इसलिए यह अपना अधिकार नहीं मानता था। कह दिया कि जत्थे में एक सामान्य स्वयं सेवक तो रह सकता हूं, लेकिन उसका नेता बनने का मेरा अधिकार नहीं है, कोई जनता के समक्ष जाने-माने व्यक्ति का ही यह अधिकार हो सकता है। तत्कालीन कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं की नीति शायद यह थी कि युद्ध लम्बा चलेगा, इसलिए प्रमुख तत्वों को पीछे से काम करना चाहिये, समक्ष आने को नये स्वयंसेवक इत्यादि रहें। ऐसी मान्यता मेरी नहीं थी। मैं समझता हूं कि अहिंसक युद्ध तो श्रद्धा के आधार पर चलता है। हम पीछे रहेंगे और ऐसे उसे सफल बनायेंगे, यह मानकर दूसरे तो चलाये जा सकते हैं, अहिंसक युद्ध नहीं चलाया जा सकता। उसमें तो नेता को सामने और पहले होना चाहिये। अतः मैं पद स्वीकार नहीं कर सका। मैंने कहा कि किसी प्रकार की बाधा मैं पैदा नहीं करना चाहता हूं, इसलिये मुझे आप अलग हो जाने दें। तो मैं शिविर से चला आया। कार्यकर्त्तागण मेरे साथ थे। उन पर यह प्रभाव पड़ा कि नेता लोग अपने को पीछे रखना चाहते हैं, युद्ध में सामने नहीं आना चाहते हैं। उस समय एक आन्दोलन नौजवान भारत सेना का चला। एक साथी ने कहा कि कुछ बन्धुओं की सभा हो रही है, तुम्हें उसमें आना है।

मुझे उसका कोई पता न था। हुआ यह कि नौजवान सेना बनी और पाया कि मैं प्रधान हूँ।

'सन् 1930 के आन्दोलन से लौटने के बाद यद्यपि मैं कराची गया था और थोड़ा-बहुत राजनीतिक गतिविधियों की दिशा में अपने को प्रवृत्त भी रखता था, लेकिन सन् 1932 का जब आन्दोलन आया तो मैं किसी प्रकार के राजनीतिक दल का सामान्य सदस्य भी नहीं था। मेरी इधर रुचि नहीं थी। किन्तु जब आन्दोलन आरम्भ हुआ तभी प्रेमचन्द की चिट्ठी आयी, तार आये कि 'हंस' के विशेषांक के लिये तुरन्त और आवश्यक रचना भेजो। लेकिन देखा, मैं लिख नहीं पा रहा हूँ, चाहता हूँ तो भी नहीं। मुझे इस बेबसी का रंज रहता था। दो-तीन रोज में ही जब उनका एक दूसरा तार आया और मैं नहीं लिख सका तो मैंने कागज का टुकड़ा लिया और उस पर एक पंक्ति लिखकर इन्द्र विद्यावाचस्पति को चिट्ठी भेजी। वे तब यहाँ की कांग्रेस के प्रधान थे। लिख दिया कि आप स्वयंसेवकों की सूची में मेरा नाम दर्ज कर लें, अमुक तिथि से आपकी आज्ञा पर हूँ। बस यह लिखना था कि देखा, अब मन में किसी तरह का द्वंद्व नहीं है। तभी तब कहानी भी लिख सकी और प्रेमचन्द जी को भेज दी गयी। तो मेरे मन में थोड़ी-बहुत उलझन जरूर रही होगी कि इधर तो लोग लड़ाई के मोर्चे पर जा रहे हैं, देश में उथल-पुथल हो रही है, मैं किनारा किए बैठा हूँ। इसी तरह की दुविधा रही होगी जिससे रचना सम्भव न हुई। इन्द्र जी को यह लिखने के दो ही रोज बाद [illegible] यहाँ के कुछ [illegible] आये और [illegible] मुझे [illegible] जी के [illegible] दिया। [illegible] कि मुझको [illegible] का 'डिक्टेटर' [illegible] है। [illegible] 'डिक्टेटर' [illegible] हुआ था। मुझको बहुत [illegible] हुआ, [illegible] हुआ। [illegible] की सूची में [illegible] 'डिक्टेटर' [illegible] नहीं थी। [illegible] नहीं है। [illegible] [illegible] हैं। [illegible]

तैयार हैं ना ? एक-एक से पूछा। आसफ अली साहब से पूछा, देशबन्धु जी से भी पूछा और-और लोगो से भी। तो मुझे लगा कि शायद मैं गलती कर रहा हूं, क्योंकि उन लोगो की कार्यपद्धति एक 'शैडो कैबिनेट' बनाकर पीछे से मुहिम चलाने की थी। लेकिन मैंने कहा कि हमारे नगर के मानस पर जब तक कोई अच्छा परिचित व्यक्ति जो बहुत दिनो से नगर का नेतृत्व और उसकी सेवा करता रहा हो और नगर उनको पहचानता हो, ऐसा व्यक्ति सामने न आयेगा और अपनी कुर्बानी नहीं देगा, जेल नहीं जायेगा, तब तक जन-मानस पर सही प्रभाव नही पड़ेगा। इसलिए एक प्रमुख मोर्चा हमको बनाना चाहिये। छोटे-मोटे प्रदर्शन से नहीं चलेगा। इस तरह कार्यक्रम निश्चित हुआ कि कम-से-कम सौ सेवक उस रोज नगर के घण्टाघर पर गिरफ्तार होंगे। उनमें अमुक-अमुक तीन जाने-माने व्यक्ति होंगे। साथ मुझ 'डिक्टेटर' को तो होना ही है। कार्यक्रम सारा बन गया। लेकिन जब ऐन वक्त पर यह कल्पना थी कि इधर से एक जत्था आयेगा इतने लोगों का अमुक के नेतृत्व में, उधर से दूसरे व्यक्तियो का अमुक नेता के साथ और उस दिशा से तीसरे नेता अपनी टुकड़ी लायेंगे। पर वैसा कुछ भी हुआ नहीं। मेरे पास एक दिन पूर्व कतिपय विदेशी सम्वाददाता आये थे और कार्यक्रम जानना चाहते थे। पहले तो मैंने उनसे कहा कि जनाब आप क्या कीजियेगा ? लोग आयेंगे, लाठियां चलेंगी, लोगों के सिर फूटेंगे। यही देखने मे आप दिलचस्पी रखते हैं, उसी को देखना है ना ? और इसमे ही आपका संवाद बनेगा। मैंने व्यंग्यपूर्वक कहा था। और उस पर वे खिन्न दीखे थे और खिन्न मैं भी हुआ था। पर अगले दिन घण्टाघर पर होने वाली प्रमुख मुठभेड़ का कार्यक्रम उन्हे बता दिया था। पर समय पर वैसा कुछ भी न हुआ। तीनों नेताओं में से वहां एक भी आविर्भूत न हुए, न उनकी टुकड़ियां। आखिर मैं ही जितना मेरे पास स्वयंसेवकों का जत्था था, उसको लेकर आगे बढ़ा और जैसा सविनय अवज्ञा का तरीका था,-झण्डा ऊंचा करके और कुछ बोलकर मैं गिरफ्तार हो गया। यह सन् 1932 के सत्याग्रह की गिरफ्तारी थी। खैर, जेल हुई और वहां मेरे मन पर और भी यह बात प्रत्यक्ष होती गयी। जेल में अपने सत्याग्रही भाइयो के तौर-तरीकों से मेरे मन पर छाप पड़ी कि गांधी जी के आन्दोलन को, गांधी जी के मार्ग को, कांग्रेस अपनाती तो है लेकिन उसकी श्रद्धा, मान्यता तदनुसार नही है। आगे जाकर हो सकता है कि ये दो सर्वथा अलग-अलग मार्ग हो जायें। एक, जिसमे नैतिकता प्रधान हो; दूसरा, जिसमें राजनीतिक आकांक्षा प्रमुख हो। ऐसा मेरे मन में घटित हुआ। तब से, सन् 1932 के बाद फिर मैं किसी भी सक्रिय आन्दोलन में गया नहीं।'

इन्द्र विद्यावाचस्पति के संस्मरण

—'जैसा अभी आपने कहा कि दिल्ली के जो दूसरे नेतागण थे, आसफ अली और डा० अंसारी वगैरह ये खुद जेल में उस समय नहीं जाना चाहते थे तो डा० अंसारी के बारे में ऐसा क्या था ?'

—'डा० अंसारी मैंने नहीं कहा। मैंने देशबन्धु गुप्त कहा।'

—'तो ये लोग सिर्फ एक 'टैक्टिक्स' की वजह से नहीं जाना चाहते थे, या कुछ प्रदेश कांग्रेस कमेटी में दलबन्दी के कारण ?'

—'दलबन्दी के सम्बन्ध में मेरा विशेष कुछ गहरा परिचय था नहीं। इस लिये मैं नहीं कह सकता हूं। लेकिन मेरी धारणा है कि युद्ध चलाने की उनकी अपनी जो कल्पना थी वह थी कि पीछे अगर कुछ जिम्मेदार लोग सम्भालने वाले रहेंगे तो देर तक युद्ध चलाया जा सकेगा, धन और जन-संग्रह का काम ठीक से चलता रह सकेगा, इसमें निरन्तरता रहेगी। ऐसी धारणा रही होगी। अपने को बचाने की बात तो शायद इतनी नहीं होगी। इस दृष्टि से डा० अंसारी को मैं शामिल नहीं कर सकता हूं क्योंकि डा० अंसारी का स्थान दिल्ली की प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी से कुछ ऊपर था। वे प्रदेश की राजनीति में उतने नहीं थे। देश की राजनीति में हां, थोड़ा-बहुत मतभेद था। पर वह अलग बात है। पंडित इन्द्र विद्या वाचस्पति गिरफ्तार हुए, यह सन् 1932 की बात मैं कह रहा हूं, तो जेल में साथ ही थे। दिल्ली जेल में उन्होंने जो अपनी कहानी सुनाई उससे मेरे मन को कुछ अच्छा नहीं लगा था। वे जेल में गये तो थे, लेकिन बतला रहे थे कि किस प्रकार की विवशता थी। वे यद्यपि अध्यक्ष थे, पर जेल जो गये, विवशता के नाते गये, किसी हताशा में गये। प्रसन्नता या उत्साह की प्रेरणा नहीं थी।'

—'जेल में पंडित जी इन्द्र विद्या वाचस्पति से जो बात हुई थी, उसको जरा तफसील में आप बताइये ?'

—'मैं समझता हूं ज्यादा तफसील में जाने की जरूरत नहीं है। उन्होंने यही कहा कि जिन हालतों में मुझे सत्याग्रह करना पड़ा जत्थे के साथ, मेरी अभी वह कल्पना नहीं थी। लेकिन मैं विवश हो गया। कांग्रेस का पद मेरे पास था, लेकिन कांग्रेस की धन-जन शक्ति पर जिनका नियंत्रण था वे दूसरे ही व्यक्ति थे। और एक अनिश्चित प्रकार का खिन्न-भाव उनमें था। और इधर हमारे राजनीतिक सत्याग्रहियों में 'क्लासिज' हो गयी थी।'

—'उस समय दिल्ली प्रदेश कांग्रेस में जैसे अभी आपने कहा कि इन्द्र जी ने कहा कि जो सत्ता है वह किन्हीं और लोगों के हाथ में है तो इन्द्र जी का इशारा देशबन्धु गुप्त की तरफ तो नहीं था ?'

—'हां, माना जा सकता है, लेकिन नेता और भी थे। यहां से फिर हम

लोग मुलतान जेल में भेजे गये थे। और मुलतान जेल में आसफ साहब तो नही आये लेकिन इन्द्र जी गये ही थे। देशबन्धु जी भी मुलतान मे थे और उन्हें 'ए क्लास' दी गयी थी। मैं पंडित जी से जिक्र करता तो साफ दीख आता कि उनके मन में बड़ा क्षोभ-सा रहता था इस ए-बी क्लास की बात को लेकर। यह सम्भव हो सकता है, बल्कि शायद सही होगा कि सूत्र, संचालन के और सत्ता के, जहां तक कि दिल्ली की कांग्रेस की राजनीति का सम्बन्ध था, देशबन्धु जी के हाथ में विशेष थे।'

—'तो इन लोगों के आपस में प्रदेशीय कांग्रेस कमेटी के अन्दर जो फर्क थे वे ज्यादा आदर्शों पर निर्धारित थे या व्यक्तिगत थे?'

—'आदर्शों का तो मैं समझता हूं विशेष प्रश्न था नही। कांग्रेस की नीति एक थी और इन दोनो की, देशबन्धु जी और इन्द्र जी की पृष्ठ-भूमि आर्य समाज की थी। इसलिए कोई विशेष आदर्शों का या नीतियों का भेद तो मैं नही मानता हूं। व्यक्तित्व में विविध तत्व रहते ही है। उनमें स्पर्धा देखी जाती है। व्यक्तित्व का प्रश्न ही अधिकांश कहिए। थोड़ा-बहुत यह प्रति-योगिता का भाव भीतर रह ही जाता है।'

—'सन् 1932 के आन्दोलन की ओर पिछले आन्दोलनों की बनिस्बत क्या कोई नये लोग, नवयुवक आदि आकर्षित हुए या नहीं?'

—'मुझे लगता है कि सन् 1930 और सन् 1932 के आन्दोलनो के स्तर में कुछ अन्तर था। जो उत्कटता, प्रखरता थी सन् 1930 मे, और जो आकर्षण था नवयुवकों के लिए, सन् 1932 में मैं मानता हू कि शायद उतना नही था। सन् 1932 के बाद जो एक 'पीरियड' आया, एक ढलाव आया सारे आन्दोलन में, वह लगभग इस बात को सिद्ध कर सकता है कि हम जिस उत्कर्ष-बिन्दु पर पहुंचे थे सन् 1930 में, तो उसके बाद वह 'ग्राफ' कुछ नीचे की ओर सरक चला था।'

गांधी जी और भगत सिंह की फांसी

—'इसका कारण क्या हो सकता है? यह हो सकता है कि गांधी जी भगत सिंह को फांसी से मुक्त नहीं करवा सके इसलिए जो नवयुवक थे वे गांधी जी से क्षुब्ध थे और इस आन्दोलन में नहीं आना चाहते थे और दूसरी तरफ जा रहे हों, या इसका और कोई कारण था?'

—'यह तो कारण नही रहा होगा। मुझे ऐसा नही लगता। हम लोग गांधी जी का जो उग्र योद्धा का रूप था, जिससे सैकड़ों जोश से भर आते थे, उसमे तो हम विश्वास करते थे। लेकिन उनका जो बुनियादी सात्विक रूप था उसका [illegible] होता था कि उसके

इन्द्र विद्यावाचस्पति के संस्मरण

—'जैसा अभी आपने कहा कि दिल्ली के जो दूसरे नेतागण थे, आसफ अली और डा० अंसारी वगैरह वे खुद जेल में उस समय नहीं जाना चाहते थे तो डा० अंसारी के बारे में ऐसा क्या था ?'

—'डा० अंसारी मैंने नहीं कहा। मैंने देशबन्धु गुप्त कहा।'

—'तो ये लोग सिर्फ एक 'टैक्टिक्स' की वजह से नहीं जाना चाहते थे, या कुछ प्रदेश कांग्रेस कमेटी में दलबन्दी के कारण ?'

—'दलबन्दी के सम्बन्ध में मेरा विशेष कुछ गहरा परिचय था नहीं। इस लिये मैं नहीं कह सकता हूं। लेकिन मेरी धारणा है कि युद्ध चलाने की उनकी अपनी जो कल्पना थी वह थी कि पीछे अगर कुछ जिम्मेदार लोग सम्भालने वाले रहेंगे तो देर तक युद्ध चलाया जा सकेगा, धन और जन-संग्रह का काम ठीक से चलता रह सकेगा, इसमे निरन्तरता रहेगी। ऐसी धारणा रही होगी। अपने को बचाने की बात तो शायद इतनी नहीं होगी। इस दृष्टि मे डा० अंसारी को मैं शामिल नहीं कर सकता हूं क्योंकि डा० अंसारी का स्थान दिल्ली की प्रादेशिक कांग्रेस कमेटी से कुछ ऊपर था। वे प्रदेश की राजनीति में उतने नहीं थे। देश की राजनीति में हां, थोड़ा-बहुत मतभेद था। पर वह अलग बात है। पंडित इन्द्र विद्या वाचस्पति गिरफ्तार हुए, यह सन् 1932 की बात मैं कह रहा हूं, तो जेल में साथ ही थे। दिल्ली जेल में उन्होंने जो अपनी कहानी सुनाई उससे मेरे मन को कुछ अच्छा नहीं लगा था। वे जेल में गये तो थे, लेकिन बतला रहे थे कि किस प्रकार की विवशता थी। ये यद्यपि अध्यक्ष थे, पर जेल जो गये, विवशता के नाते गये, किसी हताशा में गये। प्रसन्नता या उत्साह की प्रेरणा नहीं थी।'

—'जेल में पंडित जी इन्द्र विद्या वाचस्पति से जो बात हुई थी, उसको जरा तफसील में आप बताइये ?'

—'मैं समझता हूं ज्यादा तफसील में जाने की जरूरत नहीं है। उन्होंने यही कहा कि जिन हालतों में मुझे सत्याग्रह करना पड़ा जत्थे के साथ, मेरी अभी वह कल्पना नहीं थी। लेकिन मैं विवश हो गया। कांग्रेस का पद मेरे पास था, लेकिन कांग्रेस की धन-जन शक्ति पर जिनका नियंत्रण था वे दूसरे ही व्यक्ति थे। और एक अनिश्चित प्रकार का खिन्न-भाव उनमें था। और इधर हमारे राजनीतिक सत्याग्रहियों में 'क्लासिज' हो गयी थीं।'

—'उस समय दिल्ली प्रदेश कांग्रेस में जैसे अभी आपने कहा कि इन्द्र जी ने कहा कि जो सत्ता है वह किन्हीं और लोगों के हाथ में है तो इन्द्र जी का इशारा देशबन्धु गुप्त की तरफ तो नहीं था ?'

—'हां, माना जा सकता है, लेकिन नेता और भी थे। यहां से फिर हम

लोग मुलतान जेल में भेज गये [illegible]। और मुलतान जेल में आसफ साहब तो नही आये लेकिन इन्द्र जी गये ही थे। देशबन्धु जी भी मुलतान में थे और उन्हें 'ए क्लास' दी गयी थी। मैं पंडित जी से जिक्र करता तो साफ दीख आता कि उनके मन में बड़ा क्षोभ-सा रहता था इस ए-वी क्लास की बात को लेकर। यह सम्भव हो सकता है, बल्कि शायद सही होगा कि सूत्र, संचालन के और सत्ता के, जहां तक कि दिल्ली की कांग्रेस की राजनीति का सम्बन्ध था, देशबन्धु जी के हाथ में विशेष थे।'

—'तो इन लोगों के आपस में प्रदेशीय कांग्रेस कमेटी के अन्दर जो फर्क थे वे ज्यादा आदर्शों पर निर्धारित थे या व्यक्तिगत थे ?'

—'आदर्शों का तो मैं समझता हूं विशेष प्रश्न था नही। कांग्रेस की नीति एक थी और इन दोनों की, देशबन्धु जी और इन्द्र जी की पृष्ठ-भूमि आर्य समाज की थी। इसलिए कोई विशेष आदर्शों का या नीतियों का भेद तो मैं नही मानता हूं। व्यक्तित्व मे विविध तत्त्व रहते ही हैं। उनमें स्पर्धा देखी जाती है। व्यक्तित्व का प्रश्न ही अधिकांश कहिए। थोड़ा-बहुत यह प्रतियोगिता का भाव भीतर रह ही जाता है।'

—'सन् 1932 के आन्दोलन की ओर पिछले आन्दोलनों की बनिस्बत क्या कोई नये लोग, नवयुवक आदि आकर्षित हुए या नहीं ?'

—'मुझे लगता है कि सन् 1930 और सन् 1932 के आन्दोलनों के स्तर में कुछ अन्तर था। जो उत्कटता, प्रखरता थी सन् 1930 मे, और जो आकर्षण था नवयुवकों के लिए, सन् 1932 में मैं मानता हूं कि शायद उतना नही था। सन् 1932 के बाद जो एक 'पीरियड' आया, एक ढलाव आया सारे आन्दोलन में, वह लगभग इस बात को सिद्ध कर सकता है कि हम जिस उत्कर्ष-बिन्दु पर पहुंचे थे सन् 1930 में, तो उसके बाद वह 'ग्राफ' कुछ नीचे की ओर सरक चला था।'

गांधी जी और भगत सिंह की फांसी

—'इसका कारण क्या हो सकता है ? यह हो सकता है कि गांधी जी भगत सिंह को फांसी से मुक्त नहीं करवा सके इसलिए जो नवयुवक थे वे गांधी जी से क्षुब्ध थे और इस आन्दोलन में नहीं आना चाहते थे और दूसरी तरफ जा रहे हों, या इसका और कोई कारण था ?'

—'यह तो कारण नही रहा होगा। मुझे ऐसा नही लगता। हम लोग गांधी जी का जो उग्र योद्धा का रूप था, जिससे सैकड़ों जोश से भर आते थे, उसमे तो हम विश्वास करते थे। लेकिन उनका जो बुनियादी सात्विक रूप था उसका जब-जब आग्रह समक्ष आता था तो मालूम होता था कि उसके

प्रति हममें आकर्षण उतना नही है। गांधी जी के आन्दोलन मे उत्सर्ग की *सार्थकता स्वयं मे ही थी, उसके फल में नही थी। अर्थात उत्सर्ग एक स्वयं-*सिद्ध मूल्य था। लेकिन जो लोग सामने आये वे इतने गहरे उस चीज में नहीं उतरे थे। उनकी कुछ आसक्तियां थी और जब फल आसक्ति की दृष्टि से देखा गया तो पर्याप्त नही प्रतीत हुआ। तो उनमें थोड़े से निराशा के भाव आये।

'गांधी जी भगत सिंह को नही छुड़ा सके, उन्होंने उनको छुड़ाने के मुद्दे को अपनी संधि-वार्ता मे शर्त के तौर पर रखा भी नहीं। सिर्फ साग्रह अनुरोध किया कि वे यह चाहेंगे और ऐसा होना चाहिए; लेकिन उसकी शर्त के रूप में उस पर हठ नही बांधा। इस कारण कुछ लोगों मे असंतोष रहा। लेकिन मैं मानता हू कि गांधी जी में *अंग्रेजी साम्राज्य को एक भी क्षण न-सह-सकने की जो उत्कट* आकुलता थी, उससे देश आश्वस्त था। देश में उस चीज को, उनके अहिंसा के आग्रह को लेकर मेरे खयाल मे उतनी शिकायत नही थी, क्योंकि इसकी ओट मे उनमे किसी प्रकार की दुर्बलता नही देखी जाती थी। अगर ऐसा न होता और उस दशा में हिंसक आन्दोलन ही प्रखर होता, तो भी समझ में आ सकता था। लेकिन वह खास प्रबल हुआ नहीं।'

अर्जुनलाल सेठी के संस्मरण

—'आप अर्जुनलाल जी सेठी के सम्पर्क में आये थे। क्या आप बता सकते हैं कि उनका कांग्रेस को ओर रुख और उनके विचारों में तबदीली क्यों आई?'

—'अर्जुनलाल जी के साथ का सम्पर्क काफी पहले का कहा जा सकता है। वे एक आदर्शवादी पुरुष थे और कांग्रेस संगठनात्मक राजनीति में सही-सही 'फिट' नही हो पाते थे। अजमेर के कांग्रेस तंत्र के साथ उनकी पटरी बैठती नहीं थी। इसलिए वहां दो कांग्रेस कमेटियां बन गई थी। कांग्रेस की उच्च कमान ने *अजमेर की प्रतिस्पर्धी शाखा को स्वीकार किया तो उनको बहुत क्षोभ हुआ,* गहरी निराशा हुई। कानपुर के कांग्रेस अधिवेशन में तो मैं साक्षी था कि किस तरह वे 'सत्याग्रह' में कांग्रेस के पंडाल के बाहर जमीन पर लोट गये थे और उनको लाठी की चोटें आई थीं। उन्होंने प्रतिरोध किया था और उन पर वालंटियरों की मार पड़ी थी। जवाहरलाल जी अनुशासक थे। वे नही बरदाश्त कर सकते थे कि कांग्रेस का कोई भी आदमी अनुशासन भंग करे। यों *मिजाज-*पुर्सी के लिये वे बाद मे उनके पास गए थे। अनंतर सेठी जी के पास गांधी जी गये। पर चित्त उनका क्षुब्ध ही रहा, संवेदनापूर्वक गांधीजी के उनके साथ बातचीत करने के बावजूद।

अजमेर में, जमनालाल की सहायता और समर्थन जिनको प्राप्त था, ऐसे

बिल्कुल चेत न था। हो सकता है कि मैं जिस बेबाकी से चलता चला आया, उसमें किसी के लिए शक की गुंजाइश न हुई हो। शायद मेरे अन्दर दहशत रही होती तो किसी को वार करने की उकसाहट भी मिल सकती थी।

इस सम्मेलन के काम में हाथ बंटाने वाली श्रीमती सत्यवती मलिक कनाट-प्लेस में रहती थीं। उनके घर के जीने से उतरता हूं कि क्या देखता हूं कि एक-आध आदमी सड़क पर बिछा पड़ा है और कुछ लोग बगल में जिस-तिस चीज को दबाए इधर-उधर भागे जा रहे हैं। दो दुकानें लूटी जा रही थीं और इसमें कुछेक जन जख्मी भी हुए थे। कह नहीं सकता कि अभी अगस्त महीना शुरू हो ही गया था। ऐसे काण्ड शायद जाते जून से ही शुरू हो गए थे।

हमारे पड़ोस में एक मुस्लिम परिवार रहता था। लगी हुई इससे घटा-मस्जिद है और वहां भी कुछ मुस्लिम बन्धु रह-सह लेते होंगे। परिवार की बड़ी 'बी' को हम मुमानी कहते थे। शायद मैं ही एक था, जिसकी राय थी कि वह घबराएं नहीं और उनका यहां कुछ नहीं बिगड़ेगा। लेकिन उनके मन में दहशत थी और दूसरे लोगों से उस दहशत को बढ़ावा ही पहुंचता था। कुछ दिन बाद अपने बोरिया-बिस्तर बांधकर वे सब जन पुराना किला पहुंच गए; जहां शरणार्थियों का कैम्प था। और वहां से फिर पाकिस्तान।

आप चाहते हैं कि उस समय के अपनी साहित्यिक-गतिविधियों का हाल भी आपको बताऊं। असल में लेखन को किसी दायित्व भावना के साथ मैंने कभी नहीं अपनाया। लिखने लिख गया और उसका पैसा मिलने लग गया, यह दूसरी बात है। खाली जिन्दगी और इसमें ऊल-जलूल सब कुछ मैं सोचा करता था। सोचते-सोचते मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि कमाई- झूठा शब्द है। इस शब्द के झूठ के सहारे घोर विषमता समाज में छाई हुई है। एक भूखा मर रहा है, दूसरा ऐश कर रहा है। क्योंकि एक की कमाई सिफर है, दूसरे की कमाई बेतहाशा है। कमाई का यह भेद और यह जाल समाज की श्रेणियों को थामे हुए है और इस श्रेणी-बद्ध व्यवस्था को सम्भला कहकर हम गौरव से जीए चले जाते हैं। अर्थात् लेखन व्यवसाय बने यह मुझे मान्य नहीं हो पाता था। पर जीने के लिए पैसे की जरूरत होती है। सो वह पैसा कहां से आए! मेरे जैसे के पास कोई उपाय था ही नहीं, जो मुझ तक पैसा खींच ला सके। पर दिमाग ने कहा कि कमाई अगर झूठ है तो लिखकर कमा नहीं सकते हो। सच यह है कि लिखाई मेरे लिए कमाई का साधन थी। ऊपरी तौर पर नहीं, भीतर की प्रेरणा के नाते भी! बस, दिमाग की इस

प्रति हममें आकर्षण उतना नही है। गांधी जी के
सार्थकता स्वयं मे ही थी, उसके फल मे नही थी।
सिद्ध मूल्य था। लेकिन जो लोग सामने आये वे इतने
उतरे थे। उनकी कुछ आसक्तिया थी और जब फल
देखा गया तो पर्याप्त नही प्रतीत हुआ। तो उनमे य
आये।

'गाधी जी भगत सिंह को नहीं छुड़ा सके, उन्होंने उ
अपनी सधि-वार्ता में शर्त के तौर पर रखा भी नही।
किया कि वे यह चाहेंगे और ऐसा होना चाहिए; लेकिन उ
पर हठ नही बांधा। इस कारण कुछ लोगों में असंतोष रह
हूं कि गाधी जी मे अंग्रेजी साम्राज्य को एक भी क्षण न-सह
आकुलता थी, उससे देश आश्वस्त था। देश मे उस चीज
के आग्रह को लेकर मेरे खयाल मे उतनी शिकायत नही थी,
में उनमें किसी प्रकार की दुर्बलता नही देखी जाती थी। अग
उस दशा मे हिंसक आन्दोलन ही प्रखर होता, तो भी समझ
लेकिन वह खास प्रबल हुआ नही।'

अर्जुनलाल सेठी के संस्मरण

—'आप अर्जुनलाल जी सेठी के सम्पर्क में आये थे। क्या
कि उनका कांग्रेस की ओर रुख और उनके विचारों में तब

—'अर्जुनलाल जी के साथ का सम्पर्क काफी पहले का
वे एक आदर्शवादी पुरुष थे और कांग्रेस संगठनात्मक राज
'फिट' नही हो पाते थे। अजमेर के कांग्रेस तंत्र के साथ उनकी
थी। इसलिए वहा दो कांग्रेस कमेटियां बन गई थी। कांग्रेस ने
अजमेर की प्रतिस्पर्धी शाखा को स्वीकार किया तो उनको ब
गहरी निराशा हुई। कानपुर के कांग्रेस अधिवेशन मे तो मैं साथ
तरह वे 'सत्याग्रह' में कांग्रेस के पंडाल के बाहर जमीन पर
उनको लाठी की चोटें आई थी। उन्होने प्रतिरोध किया था
वालंटियरों की मार पड़ी थी। जवाहरलाल जी अनुशासक थे।
कर सकते थे कि कांग्रेस का कोई भी आदमी अनुशासन भंग करे।
पूर्ती के लिये वे बाद में उनके पास गए थे। अनतर सेठी जी के
गये। पर चित्त उनका क्षुब्ध ही रहा, संवेदनापूर्वक गांधीजी के उनको
करने के बावजूद।

अजमेर में, जमनालाल की सहायता और समर्थन जिनको

सम्भालते थे। उनकी और औरों की राय थी कि जो भी हो इतनी तैयारी है तो अब कुछ कर ही डालना चाहिए। लेकिन कत्ल होने लगे और 'अल्लाहो अकबर' और 'हनुमानबली की जय' के नारों का शोर गूंजने लगा। कान्फ्रेंस एक तरफ हुई और जुनून दूसरा सिर पर सवार हो गया। हँसी आती है अब सोचकर, लेकिन तब मेरे ही साथ यह गुजरा कि हम दस-बारह जन सिर पर मोटा साफा बाँधकर रात के दस बजे हाथ में लाठी लिए छत पर जमा हो बैठे हैं कि हमला होगा तो हम भी देख लेंगे। पक्की खबर दी गई है कि कुछ लोग अभी घटा-मस्जिद में जमा हैं और बाकी रात को जामा-मस्जिद से हजूम आएगा और सब मिलकर दरियागंज पर धावा बोलेंगे। सो जवाब में हम लोगों ने रतजगा किया। पर दूर से हो-हल्ले की गूंज कभी-कभाम सुनाई दी, उससे ज्यादा कुछ न हुआ। उस वक्त शूरवीर और कायर की एक ही पहचान थी कि वह दूसरे पक्ष के लिए अपने अन्दर कितनी नफरत भरी रख सकता है!

लेखक होने के नाते मैं अपने अन्दर नफरत जमा करके नहीं रख सकता था, इसलिए मानता हूँ कि मैं सही अर्थों में शूरवीर नहीं, कायर सिद्ध हुआ। आँखों देखी तो नहीं कह सकता हूँ, लेकिन सीधी सुनी कई बरदातों की बात अवश्य जिम्मेदारी के साथ कह सकता हूँ। कइयों ने सुनाया कि कैसे उन्होंने और उनके साथियों ने तपते तेल के कड़ाहों में जीते-जागते बच्चों को फेंककर भून डाला। कैसे औरतों की बेइज्जती की। बाद में हत्या कर डाली। अनेकों को कैसे मौत के घाट उतारा गया। कहने वाले दर्शक नहीं, सहयोगी ही थे। अनेकों में वे भी थे जो दया-माया के लिए विख्यात तक माने जा सकते थे। कई जैन थे, जो हिंसा की बात सुन तक नहीं सकते थे। क्या वे मानते थे कि उनके ये कृत्य उधर पंजाब और दूसरी जगहों में लोमहर्षक और जघन्य गाथाओं का उत्तर दे रहे हैं? क्या सचमुच हत्या का उत्तर हत्या हो सकता है? लेकिन मानव प्रकृति की सम्भावनाएँ अगम हैं और निर्वैयक्तिक कुछ ऐसी अन्धी प्रेरणाएँ हो सकती हैं जो मनुष्य को दानव बना दें या दूसरी ओर उसे देवता बना डालें!

राजनीतिक वातावरण दिन-दिन घोर विषम होता जा रहा था। अंग्रेज जाते-जाते भी मानो कूटनीति का पल्ला नहीं छोड़ सके। मालूम हुआ कि स्थितियाँ उत्कट हो गई हैं और देश का बँटवारा माने बिना गति नहीं है। एक आदमी था जो परिस्थिति के कारण कोई बेबसी स्वीकार नहीं कर सकता था—वह था गांधी। उसकी आस्था डिगने वाली न थी और वह मानता था कि हर परिस्थितियों का सामना यदि मरने का भय न हो तो अपनी मानवता को अक्षुण्ण बनाए रखकर

जिद मे लिखना मैं छोड बैठा । इस सिलसिले मे यह इसलिए याद आ रहा है कि उन्ही दिनो मैंने एक कहानी लिखी थी 'चोर'। उसमे मुमानी जी का नाम आता था और उनके घर के दो-एक और भी आ जाते थे और अचरज यह कि कहानी मे तब के हिन्दू-मुस्लिम तनाव के वातावरण की तनिक गन्ध न थी और जाने कैसे वह कहानी बंगला के विमल मित्र के पढ़ने मे आ गई। मैं उन्हें एकदम नही जानता था और पटना में सार्वजनिक रूप से जब उन्होंने उस कहानी का जिक्र किया तो मुझे विस्मय हुआ कि तत्काल के वातावरण से कटी और अयथार्थ कहानी भी गहराई तक प्रभावित कर सकती है! शायद उस कहानी के बाद 12 वर्ष तक जिद मे आकर मैंने कुछ नही लिखा। '47 का वर्ष इसी न लिखने के दौर का था । लेकिन जिस खुराफात को अपने लिखने मे फेंककर मैं बरी हो जाता था, उससे ऐसी आसानी से तो छुटकारा नहीं मिल सकता था । यानी जमीन छोड़ आसमान की बातें मुझ में उठती और मुझे सताती ही रहती थी। अचरज होगा आपको इस बीच मेरा गुजारा कैसे हुआ ? अचरज मुझे भी है । लेकिन करिश्मा यह कि कोई दिक्कत पेश नही आई । लिखा शब्द छूटा कि बोला शब्द पल्ले पड गया । यह शब्द मंच का होता है और जल्दी ही ग्राह्य बन जाता है। इसमें खर्च हुए पैसे से ज्यादा ही मुझे मिलता गया और मुझे मौका न थी कि मैं उसे अपनी कमाई मानूं ।

फिर लिखना क्यों सिर आया ? इसकी दूसरी कहानी है । जो यहां सगत नही है । सार-सक्षेप यह कि खामख्यालियों से मेरा पिण्ड नही छूटा था । न अब छूटा है। न शायद कभी छूटेगा। देश की और समाज की और दुनिया की बातें सोचूंगा । यही नही सोच पाऊंगा कि घर की आमदनी कैसे बढे और रहने के लिए ठीक मकान कैसे प्राप्त हो ? वही बात थी कि सन् '47 मे 'भारतीय साहित्य सम्मेलन' के अधिवेशन की धुन में मैं पड़ा था। कई समझदार लोग साथ हो गए थे । जिनमें प्रो० गुरुमुख निहाल सिंह की याद इसलिए आती है कि वह एकदम अलग किस्म के आदमी थे । पीछे वह मुख्य-मंत्री हुए जो उनके लायक चीज थी। तो साहब, इस सम्मेलन की तैयारी जोर-शोर से चल रही थी कि अगस्त महीना आ गया । यहां और जहां-तहां उपद्रव फूट पड़े। सम्मेलन के लिए यहां-वहां से रुपया बरस चला था और कमी नही थी। लेकिन अगस्त आते-आते डाक मे गड़बड हो चली थी ! मनीआर्डर चलते और पहुंच न पाते। एक बार सात रोज तक कोई चिट्ठी नहीं आई। हमी को ही नहीं, किसी को भी नही मिली। परेशान होकर गोल डाकखाने पहुंचे तो वहां डाक के ढेर लगे थे। कोई देखने-पूछने वाला न था। क्या किया जाता ? मैंने कहा सम्मेलन अब नहीं हो सकता है।' यशपाल जैन दफ्तर

सम्भालते थे। उनकी और औरों की राय थी कि जो भी हो इतनी तैयारी है तो अब कुछ कर ही डालना चाहिए। लेकिन कत्ल होने लगे और 'अल्लाहो अकबर' और 'हनुमानवली की जय' के नारों का शोर गूंजने लगा। कान्फ्रेंस एक तरफ हुई और जुनून दूसरा सिर पर सवार हो गया। हँसी आती है अब सोचकर, लेकिन तब मेरे ही साथ यह गुजरा कि हम दस-बारह जन सिर पर मोटा साफा बाँधकर रात के दस बजे हाथ मे लाठी लिए छत पर जमा हो बैठे हैं कि हमला होगा तो हम भी देख लेंगे। पक्की खबर दी गई है कि कुछ लोग अभी घटा-मस्जिद में जमा हैं और बाकी रात को जामा-मस्जिद से हजूम आएगा और सब मिलकर दरियागंज पर धावा बोलेंगे। सो जवाब में हम लोगों ने रतजगा किया। पर दूर से हो-हल्ले की गूँज कभी-कभार सुनाई दी, उससे ज्यादा कुछ न हुआ। उस वक्त शूरवीर और कायर की एक ही पहचान थी कि वह दूसरे पक्ष के लिए अपने अन्दर कितनी नफरत भरी रख सकता है!

लेखक होने के नाते मैं अपने अन्दर नफरत जमा करके नहीं रख सकता था, इसलिए मानता हूँ कि मैं सही अर्थों में शूरवीर नहीं, कायर सिद्ध हुआ। आँखों देखी तो नहीं कह सकता हूँ, लेकिन सीधी सुनी कई बयानों की बात अवश्य जिम्मेदारी के साथ कह सकता हूँ। कइयों ने सुनाया कि कैसे उन्होंने और उनके साथियों ने तपते तेल के कड़ाहों मे जीते-जागते बच्चों को फेंककर भून डाला। कैसे औरतों की बेइज्जती की। बाद में हत्या कर डाली। अनेकों को कैसे मौत के घाट उतारा गया। कहने वाले दर्शक नहीं, सहयोगी ही थे। अनेकों में वे भी थे जो दया-माया के लिए विख्यात तक माने जा सकते थे। कई जैन थे, जो हिंसा की बात सुन तक नहीं सकते थे। क्या वे मानते थे कि उनके ये कृत्य उधर पंजाब और दूसरी जगहों में लोमहर्षक और जघन्य गाथाओं का उत्तर दे रहे हैं? क्या सचमुच हत्या का उत्तर हत्या हो सकता है? लेकिन मानव प्रकृति की सम्भावनाएँ अगम हैं और निर्वैयक्तिक कुछ ऐसी अन्धी प्रेरणाएँ हो सकती हैं जो मनुष्य को दानव बना दें या दूसरी ओर उसे देवता बना डालें!

राजनीतिक वातावरण दिन-दिन घोर विषम होता आ रहा था। अंग्रेज जाते-जाते भी मानो कूटनीति का पल्ला नहीं छोड़ सके। मालूम हुआ कि स्थितियाँ उत्कट हो गई हैं और देश का बँटवारा माने बिना गति नहीं है। एक आदमी था जो परिस्थिति के कारण कोई बेबसी स्वीकार नहीं कर सकता था—वह था गांधी। उसकी आस्था डिगने वाली न थी और वह मानता था कि हर परिस्थितियों का सामना यदि मरने का भय न हो तो अपनी मानवता को अक्षुण्ण बनाए रखकर

ाष्ठा की जा
र पद से ही

किया जा सकता है और स्थिति के ऊपर मनुष्यता की प्रभुता की प्रतिक असम्भव सकती है। पर वह आदमी तो निपट बन रहा ! कांग्रेस-सगठन के हण्ट बैंटन के नही, सदस्यता तक से विहीन। फिर राजनीतिज्ञों के समक्ष ठहरा वह स्वीकार कर आदर्शवादी। इसलिए कांग्रेस के व्यवहार-कुशल नेताओं ने लार्ड मार आशा रही साथ मिलकर विभाजन को कांग्रेस की ओर से अधिकृत रूप से स्त में मान्य लिया। बाद मे यह खबर हो सकी गांधी को। देश विचलित हुआ, परन्तु स्वीकार्य कि आखिर कांग्रेस की वर्किंग कमेटी का किया हुआ आएगा तो अ गलती को बनने के लिये 'आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी' के समक्ष। जिनको विभाज विभाजन न था, उन्हे पूरा भरोसा था कि 'अखिल भारतीय कांग्रेस' की बैठक पीछे किए सुधार देगी और विभाजन मान्य न हो पायेगा। आखिर गांधी मौजूद हैं के बारे में उनका वचन राष्ट्र को मिल ही चुका है। उनके रहते पी गए कांग्रेसी नेताओ के समझौते का मूल्य ही क्या है ?

'47 को हुई
था। प्रदीप

तो 'आल इण्डिया कमेटी' की वह बैठक 14-15 जून सन् अपने साथ दिल्ली में। पास ही मेरे कामर्स कालेज के हाल मे वह अधिवेशन हुआ की उसे अब कहते हैं कि उनके बड़े भाई दिलीप तब वालियण्टर थे और उसे भी उस सभा मे ले गए थे। पटेल, नेहरू, गांधी को मंच पर बैठे देखने तक याद है।

, नरेन्द्रदेव,
बैठा था। मैं

बताते है सरोजिनी नायडू, अमृतकौर, कृपलानी, जयप्रकाश ोई न कोई मौलाना आजाद आदि भी वहाँ थे। मैं बड़े भरोसे के साथ दर्शकों में की हार की मानता था कि अंग्रेज की कूटनीति अन्त तक नही चल पायेगी और वही तरह मैं उपाय विभाजन को टालने का निकल आएगा। भारत की और गाधी र नही जा मैं या मेरे जैसे अन्य बहुत से लोग कल्पना भी नही कर सकते थे। सब कता है। भी इस बात को मानता था कि कांग्रेस की सत्ता गांधी जी से बा सकती, और न ही गांधी जी का जनता को दिया गया कौल झूठा हो स

सही परि-
र उतरना

लेकिन जो हुआ वह अघटनीय घटना है। शायद ही कोई उसक की सीधी प्रेक्ष्य में रखकर समझ पाये। गोंडसे को इसी कारण गांधी की हत्या तो भी क्या पड़ा। उसने माना और बहुत से इतिहासकार मानते हैं कि बंटवारे की सलाह जिम्मेदारी गाधी पर है। नेहरू, पटेल, आजाद ने मान ही लिया था र जो किया गांधी के बस का यह न था कि कांग्रेस को उस माने हुए को रद्द करने को कि वह देते और नेतृत्व को सीधे अपने हाथ मे लेने को तैयार हो जाते। प कोशिश न गांधी ने वह उससे बिलकुल उल्टा ही था। उसने सलाह दी कांग्रेस अपने नेताओं का सम्मान रखें और उनके किए को अनकिया करने की

करें।

मैं साक्षी था। जो उस समय देख और अनुभव कर रहा था उसके आधार पर कह सकता हूँ, यदि गांधी का सहारा न होता, सिफारिश न होती, तो अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्यों का बहुमत नेताओं के निर्णय को मान्य करने वाला न था। उसका पूरा भरोसा इस अर्थ में गांधी पर था कि कायदे आजम जिन्ना की मुस्लिम लीग की धमकी और रक्तदुत के डर से गांधी डिगने वाले नहीं हैं। मई के महीने में उन्होंने बंगाल के सैदपुर में सलाह दी भारत के लोगों को कि वे अन्याय और अत्याचार के नीचे न झुकें। दिल्ली में फिर उन्होंने साफ कहा था कि अगर उनका बस चला तो शान्ति स्थापना से पहले पाकिस्तान कभी न बन सकेगा और अंग्रेज के मार्फत तो हरगिज नहीं। दोनों पंजाब, सीमा प्रान्त, बंगाल, बिहार में से, कत्लोगारत की दास्तानें आती और सबके कानों पर पड़ती थीं, लेकिन गांधी का कहना था कि हिंसा से डरकर—जो गलत है असत् है उसको मान लेना हमेशा हमेशा के लिए हिंसा को बढ़ावा देना हो जायेगा। जिन्ना और लीग वाले हिंसा में विश्वास करते हों तो उस विश्वास को अपना समर्थन हमें अपनी ओर से बिलकुल नहीं देना है। बल्कि अपने व्यवहार से यह बताना है कि हिंसा का भरोसा बांधना अपनी और दूसरे की मानवता के अपमान से अलग कुछ नहीं है। अर्थात् भूल जाओ कि हिंसा के उत्पात से कुछ सधने वाला है।

यह सब कुछ जानकर देश और कांग्रेस का बहुजन समुदाय आश्वस्त था कि देश कटे और टूटेगा नहीं। प्रस्ताव का बैठक में घोर विरोध भी हुआ। कहा गया कि यह तो जिन्ना के 'दो राष्ट्र सिद्धान्त' के आगे आत्म-समर्पण करना हो गया। न इसमें साम्प्रदायिक समस्या का कोई समाधान ही दीखता है।

सरदार पटेल ने अपने भाषण में बलपूर्वक कहा कि कार्य समिति ने विभाजन की योजना किसी डर से स्वीकार नहीं की है। डर वे जानते ही नहीं हैं। जो बड़े पैमाने पर खूनखराबी बरती गई है, इस पर वह क्या कहें? तीस आदमियों के एक कुटुम्ब में सिर्फ दो बचे, बाकी सबके सब मार डाले गए। इस प्रलय में से हम गुजरे हैं। लेकिन भय एक ही है कि इन बहुत से वर्षों में जो कुछ हमने कड़ी मेहनत से किया और बनाया है, वह सब ढह न जाए!

हमने स्वतन्त्रता के लिए काम किया था और इस देश को जितना सम्भव हो सके उतने बड़े भाग को मुक्त और मजबूत हम देखना चाहते हैं। यह मौका है कि भारत स्वतन्त्र रूप से उठे और अपना निर्माण करे। तीन-चौथाई से अधिक देश हमारे आगे है और यह चुनौती है हमारे लिए कि हम उसे सम्पन्न और हर तरह

से समृद्ध करके दिखाएँ। हम इस चुनौती से पीछे नहीं हट सकते।

अध्यक्ष उस समय आचार्य कृपलानी थे। उन्होंने कहा, 'मैं तीस साल से गांधी जी के साथ चम्पारन के समय से चल रहा हूँ। उनके प्रति अपनी वफादारी में कभी नहीं डिगा हूँ। मतभेद के समय भी मैंने माना है कि मेरे सारे तर्कों के सामने उनकी सहज सूझ कहीं विश्वसनीय है। आज भी मैं मानता हूं कि अपनी अनुपम निर्भयता में सही वह हैं और मैं अपनी गलती पर हूँ, लेकिन अंग्रेजी साम्राज्य के खिलाफ अहिंसक असहयोग का उपाय हमें उन्होंने बताया तो विशाल पैमाने पर उसे सार्थक करके भी दिखा दिया। ऊपरी ही-सही, पर हमने उन्हें माना है और हम सफलता तक पहुँचे है। लेकिन अब तो वही अनिश्चय में पड़े दीखते है। नोआखाली और बिहार में जो उन्होंने किया, वह करिश्मा हो सकता है। यह कहते है कि यहाँ से भारत की समस्या का हल होगा, पर वैसा होता हमें नहीं दीखता है। ऐसी परिस्थिति में बेहद व्यथा के साथ विभाजन का मैं समर्थन करता हूँ।'

बैठक के शुरू में गांधी का भाषण मार्मिक था। उन्होंने कहा, 'मेरे विचार इस विषय में सबको मालूम हैं। सभा को कार्य समिति के निर्णय को मानने और न मानने का अधिकार है। लेकिन याद रखना होगा कि कार्य-समिति उनके प्रतिनिधि की हैसियत से जो करती है, उसको मान्य रखना, इस ए० आई० सी०सी० का सामान्य कर्तव्य है। हां, अगर वे उत्कटता के साथ मानते हैं कि इसमें देश का अनिष्ट है तो वह प्रस्ताव गिरा सकते है। लेकिन उसे गिराने का अर्थ होगा कि उन्हें अपने बीच नए नेता खड़े कर लेने हैं, जो न केवल कार्य-समिति बनाए बल्कि सरकार चलाने का भार भी अपने ऊपर लें। कार्य-समिति के सदस्य परखे हुए नेताजन हैं और वही कांग्रेस की रीढ हैं। आज की घड़ी में उनको हटाना असंभव नहीं तो अबुद्धिमानी का काम तो होगा ही। कांग्रेस पाकिस्तान के विरुद्ध रही और वह खुद भारत-विभाजन के सख्त खिलाफ हैं। फिर भी ए० आई० सी०सी० के सामने वह उपस्थित हुए हैं यह कहने के लिए कि प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाए। कभी-कभी बड़े कड़वे और अनहोने निर्णय भी करने या स्वीकार करने पड़ जाया करते हैं।'

मैं उस क्षण का साक्षी था। गांधी के शब्दों में संदिग्धता तनिक भी नहीं थी। पर एक ऐसी प्रशान्त वेदना उनमें व्याप्त थी कि किसी को छुए बिना उस समय न रह सकी। प्रस्ताव, जिस विमूढ और स्तब्ध वातावरण में स्वीकृत हुआ उसको मैं आज भी अपनी आँखों के सामने उसी तरह स्पष्ट देख सकता हूं।

महाभारत में श्रीकृष्ण ने पितामह भीष्म से पूछा कि आपकी मृत्यु चाहिए!

इसका उपाय बताइए। यहाँ गांधी से पूछा नहीं गया। पर नेहरू, पटेल ने जैसे उनके अनजान में माउण्टबैटन के साथ कांग्रेस की ओर से अपना फैसला करके उन्होंने मानो मौनपूर्वक उनकी मौत को मांग ही लिया और गांधी ने आशीर्वाद-पूर्वक कहा तथास्तु! तुम खण्डित भारत के राज्य का मुकुट अपने सिर के लिए चाहते हो तो लो और सुख से राज्य करो। लेकिन इतिहास संदेह में है कि वह राज्य एक क्षण के लिए भी अब तक सुखपूर्वक किया जा सका है!